अंक 86 जुलाई-सितम्बर, 1999

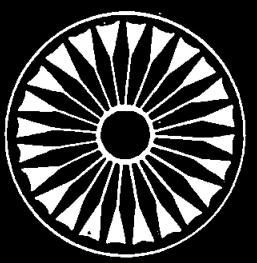

राजभाषा विभाग गृह मंत्रालय भारत सरकार नई दिल्ली

राजभाषा हिंदी की स्वर्ण जयन्ती

सत्यमेव जयते

गृह मंत्री
भारत

संदेश

50 वर्ष पूर्व आज ही के दिन 14 सितम्बर, 1949 को भारतवर्ष की संविधान सभा ने हिंदी को संघ की राजभाषा के रूप में स्वीकार किया था। आज उस ऐतिहासिक निर्णय की स्वर्ण जयन्ती है। इस अवसर पर सबको मेरी हार्दिक शुभकामनाएं।

14 सितम्बर हिंदी दिवस के रुप में हर वर्ष मनाया जाता है। इस वर्ष स्वर्ण जयन्ती के उपलक्ष्य में यह वर्ष समूचे देश में विशेष उत्साह और उल्लास के साथ मनाया जाएगा।

राष्ट्र को एक मंच पर लाने और स्वाधीनता का स्वर एक साथ मिलकर उठाने में हिंदी की अहम भूमिका रही है। अहिंदी भाषी प्रदेशों के मनीषियों, महापुरुषों और संतों का विशेष योगदान रहा है। स्वाधीनता आन्दोलन में महात्मा गांधी जी के नेतृत्व में सारे देश के राष्ट्रीय स्तर के नेताओं ने आपसी सम्पर्क सूत्र के रुप में हिंदी को अपनाया।

स्वाधीनता के इन 52 वर्षों में राजभाषा हिंदी का चहुँमुखी विकास हुआ है। आज हिंदी इतनी सक्षम है कि उसमें चिकित्सा, विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी, कृषि, कम्प्यूटर, मानविकी, प्रबंधन आदि अनेक विधाओं में वैज्ञानिक, तकनीकी और साहित्यिक रचनाएं लिखना सरल और सहज हो गया है। हिंदी में रचनात्मक कार्य करना संभव है, अब यह व्यापक रूप से स्वीकार किया जा रहा है।

हिंदी की समृद्धि और विकास के सन्दर्भ में हमें इस बात का ध्यान रखना होगा कि हम एक नई सहस्त्राब्दी के द्वार पर खड़े हैं। यह तीव्र परिवर्तन का समय है । नया युग सूचना क्रान्ति का युग होगा। अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में जबरदस्त प्रतिस्पर्धा का दौर चल रहा है। हर देश अपनी प्रगति की रफ्तार को तेज करने में जुटा हुआ है।

प्राचीन इतिहास, गौरवशाली संस्कृति, विशाल प्राकृतिक सम्पदा एवं मानव संसाधनों से युक्त भारत एक प्रमुख विश्वशक्ति के रुप में उभरेगा इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। नये युग की अपेक्षाओं और सूचना प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में हो रहे नित नये अनुसंधानों के अनुरूप ही हमें राजभाषा हिंदी को इस प्रकार ढालना होगा कि वह देश के उत्तरोत्तर विकास में अपनी भूमिका निभा सके। इस परिप्रेक्ष्य में यह स्वर्ण जयन्ती का अवसर एक हर्ष और उत्सव का अवसर तो है ही साथ ही गंभीर आत्मनिरीक्षण और अपनी उपलब्धियों के निष्पक्ष आकलन का अवसर भी है।

हम सब मिलकर आज यह संकल्प लें कि संविधान के प्रति अपनी आस्था रखते हुए हम सब राजभाषा हिंदी के विकास और उत्थान में अपना पूर्ण योगदान देंगे।

लाल कृष्ण आडवाणी

(लाल कृष्ण आडवाणी)

नई दिल्ली
दिनांक 14 सितम्बर, 1999

भारति जय विजय करे, कनक-शस्य-कमल धरे—निराला

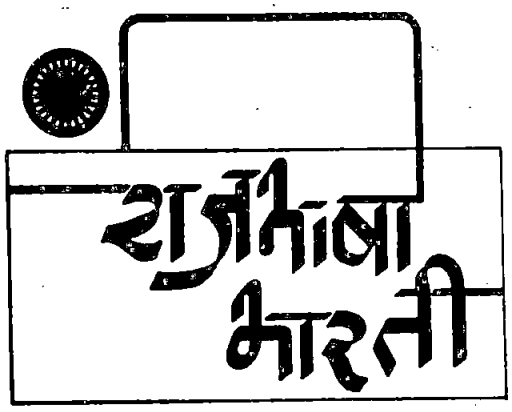

राजभाषा की त्रैमासिकी

वर्ष : 22
अंक : 86
श्रावण-आश्विन, 1921 जुलाई-सितम्बर, 1999

☐ संपादक :
प्रेम कृष्ण गोरावारा
निदेशक (अनुसंधान)
फोन : 4617807

☐ उप संपादक :
नेत्र सिंह रावत
फोन : 4698054
सुरेन्द्र लाल मल्होत्रा
फोन : 4698054

नि:शुल्क वितरण के लिए

पत्रिका में प्रकाशित लेखों में व्यक्त विचार एवं दृष्टिकोण संबंधित लेखक के हैं। सरकार अथवा राजभाषा विभाग का उनसे सहमत होना आवश्यक नहीं है।

पत्र-व्यवहार का पता :

संपादक, राजभाषा भारती,
राजभाषा विभाग, गृह मंत्रालय,
लोकनायक भवन, (दूसरा तल)
खान मार्किट, नई दिल्ली-110003

अनुक्रम

			पृष्ठ
☐	संपादकीय		
☐	चिंतन		
1.	भाषा नियोजन और हिन्दी का मानकीकरण	— प्रो. सूरजभान सिंह	1
2.	अखिल भारतीय शब्दावली और लिप्यंतरण	— डॉ० नरेन्द्र व्यास	6
3.	पारिवारिक न्यायालय : पृष्ठभूमि, प्रावधान एवं प्रगति	— पवन चौधरी 'मनमौज़ी'	9
4.	चिकित्सा, उद्योग व अन्य क्षेत्रों में लेसर का प्रयोग	— दि. दे. भवालकर	13
5.	भारतीय दूरसंचार क्रांति के दो दशक	— आर. डी. माशीवाल	16
6.	न्यूरल नेटवर्क	— मनोरंजन प्रसाद सिंह	20
7.	अगला यथार्थ (कहानी)	— हिमांशु जोशी	23
8.	हिंदी भाषा का निर्माण और सुमित्रानन्दन पंत	— शक्ति त्रिवेदी	28
9.	21वीं सदी—क्रांतिकारी वैज्ञानिक प्रद्योगिकियों के साथ	— प्रो. एन. सी. मूर्ति	31
10.	विज्ञान, प्रौद्योगिकी और शिक्षा माध्यम	— प्रेमानन्द चन्दोला	35
11.	अन्तरिक्ष का इतिहास	— काली शंकर	39

संपादकीय

राजभाषा हिंदी की स्वर्ण जयंती के शुभ अवसर पर राजभाषा विभाग की ओर से अपने प्रबुद्ध पाठकों को बधाई। जैसाकि विदित है 14 सितम्बर 1949 को भारत की संविधान सभा ने देवनागरी में लिखी जाने वाली हिंदी को संघ की राजभाषा के रूप में अंगीकार किया था। इस वर्ष 14 सितम्बर 1999 को जब हम उस ऐतिहासिक अवसर की स्वर्ण जयंती मना रहे हैं—यह समीचीन होगा कि इन 50 वर्षों में हिंदी की विकास यात्रा पर एक नजर डाल ली जाए।

राजभाषा हिंदी के संबंध में संविधान में की गई व्यवस्थाओं, राजभाषा अधिनियम 1963, राजभाषा संकल्प, 1968 और राजभाषा नियम 1976 के परिप्रेक्ष्य में सरकारी कार्यालयों में राजभाषा हिंदी की स्थिति का जायजा लेने पर यह बात स्पष्ट रूप से उभर कर सामने आती है कि गत 50 वर्षों में राजभाषा हिंदी का प्रयोग क्रमिक रूप से बढ़ा है। तथापि स्थिति को बेहतर बनाने के लिए निम्नलिखित सुझावों पर विचार किया जा सकता है—

1. हिंदी का प्रयोग करने में हीनता के भाव से ग्रस्त न होकर स्वभाषा के प्रयोग में हम गर्व का अनुभव करें। भाषा मात्र भाषा न होकर राष्ट्रीय अस्मिता एवं संस्कृति की वाहिका होती है। अपनी संस्कृति और जीवन-मूल्यों के संरक्षण के लिए अपनी भाषाओं का प्रयोग हमारा राष्ट्रीय कर्तव्य है।
2. हमारी भाषा में मान करने का सब कुछ है—समृद्ध साहित्य, समृद्ध शब्द-सम्पदा आदि।
3. ज्ञान-विज्ञान और सूचना-प्रौद्योगिकी आदि के क्षेत्र में तेजी से हो रही प्रगति और विकास के मद्देनजर आज यह और भी जरूरी हो गया है कि इस प्रगति की जानकारी और उसके लाभ आम जनता तक अपनी भाषाओं में पहुंचे किसी विदेशी भाषा के माध्यम से नहीं। हिंदी और अन्य भारतीय भाषाएं इतनी सक्षम और समर्थ हैं कि तमाम प्रकार के आधुनिक विषयों की अभिव्यक्ति इनमें सहज ढंग से हो सकती है। इस परिप्रेक्ष्य में आवश्यक है कि हम अपना मौलिक चिन्तन अधिक-से-अधिक अपनी ही भाषाओं में करें।
4. आर्थिक-उदारीकरण के वर्तमान परिवेश में बहुत सी बहु-राष्ट्रीय कम्पनियां व्यापार और व्यवसाय की दृष्टि से भारत में प्रवेश कर चुकी हैं। इन कम्पनियों को उपभोक्ता तक पहुंचाने के लिए उपभोक्ता की भाषा इस्तेमाल करनी होगी। इस संदर्भ में हिंदी और अन्य भारतीय भाषाओं के प्रयोग का व्यापक क्षेत्र हमारे सामने है। जरूरत है उसे भुनाने की। व्यावसायिक प्रतिस्पर्धाएं व्यवसाय को अधिक-से-अधिक ग्राहक-उन्मुख बनाने हेतु प्रेरित करती हैं। इसमें भाषा को एक अहम भूमिका का निर्वाह करना होता है। व्यवसाय के उत्पादों तथा सेवा की अपेक्षाओं को समझने में भाषा एक सेतु का कार्य करती है।
5. हिंदी के संवर्धन, विकास, प्रचार-प्रसार के लिए इसे रोजी-रोटी के साथ जोड़ना भी जरूरी है। जैसे-जैसे हिंदी और अन्य भारतीय भाषाएं रोजी-रोटी से जुड़ती जाएंगी स्थिति स्वत: बेहतर होती चली जाएगी।

उपर्युक्त के मद्देनजर हम सबका यह नैतिक और राष्ट्रीय दायित्व बनता है कि स्वर्ण जयंती के इस ऐतिहासिक अवसर पर हम अपनी भाषाओं का अधिक से अधिक प्रयोग करने का दृढ़ संकल्प लें और उस संकल्प को पूरी निष्ठा के साथ कार्यान्वित करें।

हम अपने राष्ट्रीय दायित्व के निर्वाह में बड़ी चूक करेंगे यदि इस अवसर पर कारगिल युद्ध में हुए शहीदों का स्मरण न करें। जब-जब देश पर आपदा के बादल छाए हैं सीमा पर तैनात भारतीय जवानों ने अपनी वीरता, साहस और शौर्य का परिचय दिया है। सीमा के उस पार से अचानक हमले के बावजूद भारतीय जवानों ने अदम्य साहस का परिचय दिया जिसके लिए वे प्रत्येक देशवासी उन्हे शत्-शत् नमन करता है। इस युद्ध में जिन जवानों ने देश की रक्षा करते हुए अपने प्राणों का बलिदान दिया उनके प्रति राजभाषा भारती परिवार अपनी भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित करता है।

(प्रेमकृष्ण गोरावारा)

भाषा नियोजन और हिंदी का मानकीकरण

□प्रो. सूरज भान सिंह

मानकीकरण भाषा विकास प्रक्रिया का एक सहज प्रतिफलन है। भाषा के रूप लोक-व्यवहार से परिष्कृत और सिद्ध होते हैं। जब भाषा-समाज सामूहिक रूप से इनका व्यवहार करने लगता है तो वे रूप रूढ़ और मानक हो जाते हैं और भाषा-परंपरा के अंग बन जाते हैं। सभी मानव भाषाओं के इतिहास में सामान्य रूप से मानकीकरण की यही अघोषित प्रक्रिया रही है। लेकिन बीच-बीच में कुछ भाषाओं के इतिहास में ऐसे ही दृष्टांत मिलते हैं जब भाषा के मानकीकरण को शुद्धिकरण के प्रयासों से जोड़ा गया। ऐसे प्रयासों का प्रमुख लक्ष्य होता है अपनी भाषा को विदेशी भाषाओं के प्रभाव से मुक्त कर शुद्ध बनाए रखना। आधुनिक काल में जब से भाषा वैज्ञानिकों ने बहुभाषिता के संदर्भ में अविकसित तथा विकासमान देशों की भाषा संबंधी समस्याओं पर कार्य करना शुरू किया, तब से मानकीकरण शब्द को एक नया तकनीकी अर्थ दिया जाने लगा और भाषा नियोजन की नयी संकल्पना सामने आयी, जिसके अंतर्गत भाषा आधुनिकीकरण भाषा मानकीकरण, भाषा अनुकूलन और भाषा संस्कार आदि संकल्पनाओं को नया संदर्भ और आयाम प्राप्त होने लगा। इस प्रकार मानव-भाषा के इतिहास में मांनकीकरण के तीन स्पष्ट रूप हमारे सामने आते हैं—एक, सहज ऐतिहासिक प्रक्रिया के रूप में, दूसरे, सचेष्ट शुद्धिकरण प्रक्रिया के रूप में और तीसरे, आधुनिकीकरण प्रक्रिया के एक अंग के रूप में।

सहज ऐतिहासिक प्रक्रिया के रूप में

सहज ऐतिहासिक प्रक्रिया के रूप में भाषा का मानकीकरण भाषा के विकास-क्रम से जुड़ा है। जब भाषा या भाषा का कोई रूप काफी लम्बी अवधि तक प्रचलन में आकर प्रयोगसिद्ध हो जाता है और उसके बोलनेवाले उसी रूप और अर्थ में भाषा या भाषा-रूपों को ग्रहण करने लग जाते हैं तो वह भाषा या भाषा-रूप सहज रूप में मानक हो जाता है और उसे सामाजिक स्वीकृति मिल जाती है। एक बार इस प्रकार सामाजिक स्वीकृति मिल जाने के बाद ये भाषा-रूप भाषा संपदा और परम्परा के अंग हो जाते हैं और आगे आने वाली पीढ़ी के लिए मानक बन जाते हैं।

एक बार मानक बने भाषा-रूप हमेशा मानक या स्वीकार्य बने रहें, यह जरूरी नहीं। भौगोलिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक शक्तियों का दबाव मानकीकरण के मानदंडों को प्रभावित करता रहता है और नवनिर्मितियों को जन्म देता है। उदाहरण के लिए ब्रज भाषा, जो एक समय पश्चिमी उत्तर प्रदेश के मथुरा-आगरा क्षेत्र के एक करोड़ लोगों द्वारा बोली जाने वाली मानक साहित्यिक भाषा थी, 20वीं शताब्दी के प्रारंभ तक आते-आते एक बोली के रूप में सीमित होकर रह गई। उसी काल में मेरठ और दिल्ली के आसपास बोली जाने वाली तथाकथित अमानक खड़ी बोली, जो मुख्यत: केवल बोलचाल की भाषा ही थी, मानक भाषा के रूप में विकसित हुई और हिन्दी भाषा के रूप में भारत संघ की राजभाषा के पद पर प्रतिष्ठित हुई। इसी प्रकार संस्कृत स्वर ''ऋ'', जो किसी समय मानक मूर्धन्य के रूप में उच्चारित होता था, आज जिस रूप में हिंदी भाषा-समाज में उच्चारित होता है, वह सामान्यत: ''रि'' के उच्चारण से भिन्न नहीं। पुराने रूपों का प्रचलन से हटना और नये रूपों का सृजन दोनों भाषा-विकास में एक दूसरे के पूरक हैं और नये मानक निर्माण के बीज तत्व हैं।

सचेष्ट शुद्धीकरण प्रक्रिया के रूप में

ऊपर बताई गई मानकीकरण प्रक्रिया सामान्यत: भाषा-विकास की ऐतिहासिक प्रक्रिया का प्राकृतिक या सहज प्रतिफलन है जिसमें कोई व्यक्तिगत, संस्थागत या राष्ट्रीय उद्देश्य निहित नहीं होता। लेकिन भाषा मानकीकरण की प्रक्रिया शुद्धीकरण के उद्देश्य से प्रेरित सायास प्रक्रिया भी हो सकती है। जब राष्ट्रीय गौरव और संस्कृति के उन्नयन के उद्देश्य से कोई भाषाविद या संस्था अपनी भाषाओं का परिष्कार या शुद्धीकरण करने का व्यवस्थित प्रयास करता है तो उसका लक्ष्य सामान्यत: अपनी भाषा को विदेशी तत्वों से मुक्त कर स्वदेशी प्रतिमानों का विकास करना होता है। कभी-कभी यह भी उद्देश्य हो सकता है कि एक ही प्रकार्य के लिए प्रयुक्त एकाधिक समानांतर रूपों या विकल्पों को कम कर उनके बीच मानक रूपों की स्थापना की जाए।

आई-127, नारायणा विहार, नई दिल्ली

उदाहरण के लिए राष्ट्रीय संस्कृति और भाषा-शुद्धता के उद्देश्य से प्रेरित होकर फ्रांसीसी अकादमी (1630) ने बड़े उत्साह में फ्रांसीसी भाषा को विदेशी शब्दों और प्रभावों से बचाते हुए अपनी भाषा को शुद्ध रखने का प्रयास किया। इटली में फ्लोरेन्टाइन अकादमी (1540) और अकादमी डेलाकुस्का (1582) नामक दो भाषा अकादमियों ने तुस्कन भाषा के मानक व्याकरण और शब्दकोशों का निर्माण कर तुस्कन को मानक इतालवी का दर्जा दिलाया। 17वीं और 18वीं शताब्दियों में अनेक यूरोपीय देशों में इसी प्रकार की भाषा अकादमियां उभरकर सामने आयीं, जैसे स्पेन में स्पेनिश अकादमी (1783), स्वीडन में स्वीडिश अकादमी (1786), जर्मनी में जर्मन अकादमी (1617), इंग्लैंड में अंग्रेजी अकादमी (लगभग 1712) और एक अकादमी (1820) अमरीका में। इनमें से स्पेनिश अकादमी के अलावा अन्य अकादमियों को अधिक सफलता नहीं मिल पायी। इसी शताब्दी में फाउलर्स, इंग्लिश, किंग्स इंग्लिश और आर. पी. (Received Pronunciation) के माध्यम से अंग्रेजी भाषा के प्रयोग तथा उच्चारण रूपों को स्थिर करने के महत्वपूर्ण प्रयास हमें मिलते हैं।

स्वयं इंग्लैंड में शताब्दियों तक अंग्रेजी भाषा फ्रांसीसी भाषा के प्रभुत्व में रही—तब इंग्लैंड के प्रशासन की भाषा फ्रांसीसी थी और ज्ञान की भाषा लैटिन-ग्रीक। लेकिन पुनर्जागरण काल के दौरान राष्ट्रीय गौरव की उग्र भावना से प्रेरित होकर इंग्लैंड ने यह संकल्प किया कि वे फ्रांसीसी और लैटिन की बेड़ी को उतार फेंकेगे और अपनी भाषा का ही उन्नयन और परिष्कार करेंगे। अत: अंग्रेजी भाषा के शब्द-भंडार, व्याकरण और उच्चारण-रूपों के परिष्कार के कई प्रयास शुरू हुए। महान कोशकार सेमुअल जॉनसन ने, जिसने अंग्रेजी भाषा के शब्द-भंडार को मानक करने का दायित्व उठाया, घोषित किया कि हर भाषा में कुछ विसंगितियां या कमियां होती हैं और शब्दकोशकार का यह कर्तव्य है कि वह इन्हें दूर करे और गलत रूपों का निषेध करे (जॉन्सन 1747/1963 : 4)।

डा. रघुवीर द्वारा रचित डेढ़ लाख अंग्रेजी-हिंदी तकनीकी शब्दों का कोश (1955) भाषा के शुद्धीकरण प्रयास का एक ज्वलंत उदाहरण है। कोशकार ने इस कोश में अंग्रेजी शब्दों का पूर्ण बहिष्कार कर उनकी जगह मुख्यत: संस्कृत आधारित पर्यायों का निर्धारण किया है। यह एक अलग बात है कि इस प्रकार की कट्टर शुद्धतावादिता को समाज ने अंतत: स्वीकार नहीं किया। इसी प्रकार की शुद्धतावादी प्रवृत्ति आज थोड़ी-बहुत तमिल भाषा के सुधारकों के प्रयासों में भी देखी जा सकती है जो अपनी भाषा से संस्कृत, हिंदी या आर्य भाषा के शब्दों को निकालकर उनके स्थान पर शुद्ध तमिल के शब्दों को रख रहे हैं। यहां भी निहित भावना अपनी भाषा की स्मिता और गौरव की रक्षा करना है। पाणिनी का अष्ठाध्यायी (700-500 ईसा पूर्व) संस्कृत व्याकरण के मानकीकरण का एक ऐसा अद्वितीय उदाहरण है जिसमें किसी एक मनीषी ने व्यक्तिगत स्तर पर भाषा के समस्त व्याकरण का नियमबद्ध कर मानक रूपों को स्थिर करने का प्रयास किया।

आधुनिकीकरण प्रक्रिया के एक अंग के रूप में

भाषा का विकास किसी पूर्व निर्धारित मार्ग-रेखा का अनुसरण नहीं करता। भाषा के इतिहास में कभी ऐसे क्षण भी आते हैं जब बाहरी परिस्थितियां भाषा के सहज विकास की प्रक्रिया पर हावी हो जाती हैं। आकस्मिक राजनीतिक परिवर्तन, युद्ध, उपनिवेशीकरण, उपनिवेशवाद से मुक्ति, तीव्र सामाजिक-आर्थिक गतिविधियां, ज्ञान तथा टैक्नोलॉजी का आकस्मिक विस्तार और गहन भाषा-संपर्क आदि कुछ ऐसी स्थितियां हैं जो न केवल समाज में भाषा की संप्रेषण-भूमिकाएं पुनर्निर्धारित करती हैं, बल्कि भाषा की ध्वनि व्यवस्था, लिपि व्यवस्था, शब्दावली, व्याकरण, वाक्य-रूप, प्रोक्ति और यहां तक विचार-पद्धति भी नई अपेक्षाएं करती हैं। ऐसी स्थितियों में संप्रेषणात्मक भूमिकाओं का पुनर्निर्धारण होता है—या तो एक भाषा दूसरी भाषा पर प्रभुत्व स्थापित कर लेती हैं, जैसे उपनिवेशीकरण या राजनीतिक विजय की स्थिति में, या अधीनस्थ भाषाओं को समुन्नत कर उन्हें उन सभी भूमिकाओं के लिए तैयार किया जाता है जिनका निर्वाह अब तक विदेशी भाषा करती थी, जैसे उपनिवेशी स्थिति के समाप्त होने पर या प्रजातंत्रीय प्रणाली की स्थापना होने पर ये दो चरम स्थितियां हैं लेकिन इन दोनों के बीच एक ऐसी भी स्थिति संभव है कि समाज की संप्रेषण-व्यवस्था में दोनों भाषाएं एक दूसरे की पूरक भूमिकाएं निभाने लगे, अर्थात् दोनों के व्यवहार-क्षेत्र स्पष्टत: परस्पर वितरित हो जाएं, जैसा कि उपनिवेशी स्थिति से मुक्त हुए अनेक विकासशील देशों में विदेशी तथा स्वदेशी दोनों भाषाओं का प्रयोग समानांतर चलता रहता है। इन तीनों ही स्थितियों में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में एक भाषिक द्वन्द्व या तनाव की स्थिति रहती है—मानक और अमानक के बीच, आरोपित और अधीनस्थ भाषाओं के बीच, राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय भाषा के बीच। इस तरह की स्थिति राष्ट्रव्यापी स्तर पर नियोजित तथा संस्थागत प्रयासों की मांग करती है।

आधुनिक विज्ञान और प्रौद्योगिकी के ज्ञान को अपनी भाषाओं में व्यक्त करने की विकासशील देशों की आकांक्षाओं के फलस्वरूप अनेक भाषाओं में आधुनिकीकरण और मानकीकरण की प्रक्रिया का सूत्रपात हुआ। इन प्रक्रियाओं में जिस तरह की समस्याएं

सामने आई वे हर देश की अलग-अलग हो सकती हैं, लेकिन कुछ मुद्दे इन सबमें समान हैं, जैसे भाषा-अनुकूलन की पद्धति, तकनीकी शब्दावली का विकास, अंतर्राष्ट्रीय शब्दों या प्रतीकों का ग्रहण, मानकीकरण के प्रतिमान, नवनिर्मितियों की सामाजिक स्वीकार्यता, प्रयोक्ताओं द्वारा विदेशी भाषा के किसी मानक विकल्प का पहले से ही ज्ञान या परिचय, नए शब्द व भाषा-रूपों को प्रयोगसिद्ध बनाने की समस्या, भाषाओं को वैधानिक मान्यता देने का प्रश्न, अद्यतन वैज्ञानिक और तकनीकी साहित्य का निर्माण और इन सबसे ऊपर राष्ट्रीय और सांस्कृतिक गौरव का प्रश्न।

इस प्रकार की जटिल स्थिति एक निश्चित और व्यवस्थाबद्ध प्रयास की अपेक्षा करती है। व्यवस्थाबद्धता नियोजन की अपेक्षा करती है—भाषा-नियोजन की। नियोजन नियोजक की आकांक्षा करता है जो नीति और नीति को कार्यान्वित करने के लिए उचित कार्यप्रणाली को सूत्रबद्ध करता है। नियोजक अधिकारी सामान्यत: सरकार या कोई विद्वत संस्था होती है।

भाषा-विकास की यह नियोजित प्रक्रिया कई मायनों में भाषा-विकास की प्राकृतिक या सहज प्रक्रिया से भिन्न होती है। देखिए :

(क) नियोजित भाषा-विकास की प्रक्रिया सायास और व्यवस्थाबद्ध होती है। इसके विपरीत सहज भाषा विकास प्राकृतिक और अनियंत्रित होता है। इसीलिए नियोजित भाषा-विकास 'भाषा नियोजन' की मांग करता है।

(ख) नियोजित भाषा-विकास का उद्देश्य स्वदेशी भाषा को आधुनिक ज्ञान-विज्ञान और प्रौद्योगिकी की भाषा संबंधी जरूरतों को पूरा करने में समर्थ बनाना होता है। इसलिए इसके साथ 'भाषा आधुनिकीकरण' और 'मानकीकरण' तत्व जुड़े रहते हैं।

(ग) नियोजित भाषा-विकास की दिशा सामान्यत: कुछ मूल 'राष्ट्रीय लक्ष्य' या सिद्धांतों द्वारा प्रेरित होता है।

(घ) नियोजित भाषा-विकास के पीछे सामान्यत: किसी राष्ट्रीय संस्था या शासन का समर्थन रहता है। यह समर्थन मुख्यत: वित्तीय रहता है।

आधुनिक संदर्भ में देखें तो ज्ञान-विज्ञान की दृष्टि से विकसित राष्ट्रों में भाषा का विकास सहज प्राकृतिक प्रक्रिया से होता है, नियोजित प्रक्रिया से नहीं। प्राकृतिक भाषा-विकास की इस प्रक्रिया में भाषा, मौलिक ज्ञान-विज्ञान की विशिष्ट मांगों का अनुसरण करते हुए, प्रयोग के आधार पर स्वत: विस्तृत और विकसित होती जाती है। इस प्रक्रिया में ज्ञान तथा भाषा दोनों का विस्तार साथ-साथ होता है। मौलिक लेखक, चिंतक तथा वैज्ञानिक अपनी आवश्यकता के अनुकूल नए भाषा-प्रयोग करते हैं, नए भाषा-रूपों का सृजन करते हैं, नए शब्दों का निर्माण करते हैं या विद्यमान शब्दों को नए अर्थ देते हैं। इनमें से जो रूप प्रयोगसिद्ध हो जाते हैं वे मानक बन जाते हैं। जो रूप प्रयोगसिद्ध नहीं हो पाते वे सामाजिक मान्यता नहीं प्राप्त कर पाते और समय के साथ लुप्त हो जाते हैं। इस प्रक्रिया की विशेषता यह है कि इसमें भाषा-रूपों को मानकता प्रदान करने वाला सामान्यत: स्वयं इसका प्रयोक्ता होता है कोई बाहरी भाषा-संस्था नहीं और न रूप या शब्द का निर्माण करने वाला वह मौलिक चिंतक या आविष्कारक होता है जिसने उस नई संकल्पना या वस्तु को जन्म दिया है। विश्व के विकसित भाषा-समाजों में भाषा का आधुनिकीकरण और भाषा-रूपों का मानकीकरण इसी प्रक्रिया से हुआ है।

विकासशील देशों में या ऐसे भाषा समाजों में जहां की भाषा पर किसी अन्य विकसित तथा सशक्त भाषा का प्रभुत्व रहा हो, नियोजित रीति से भाषा को विकसित तथा आधुनिक बनाने की आवश्यकता पड़ती है। इस प्रकार की विकास-प्रक्रिया की आवश्यकता केवल उन्हीं ज्ञान-क्षेत्रों या व्यवहार-क्षेत्रों में पड़ती है जहां नए ज्ञान का स्रोत कोई और भाषा-समाज होता है और यह समाज केवल ग्राहक या प्राप्तकर्ता के रूप में उस भाषा समाज से ज्ञान तथा भाषा-रूप दोनों उधार में प्राप्त करता है। विकासशील देशों की भाषाओं को उनकी सामाजिक तथा शैक्षिक मांगों को पूरा करने में समर्थ बनाने के लिए भाषानियोजन के निम्नलिखित दो पक्ष हैं : 1. स्थितिपरक नियोजन (Status Planning) 2. कायिक नियोजन (Corpus Planning)

भाषा-समाज की संप्रेषण-व्यवस्था के अंतर्गत विभिन्न भाषाओं की स्थिति या भूमिका का निर्धारण स्थितिपरक नियोजन है। स्थिति-निर्धारण सामान्यत: वैधानिक या संवैधानिक व्यवस्था के माध्यम से होता है और इसका दायित्व नीति-निर्माताओं तथा राजनेताओं पर होता है। भारतीय संविधान में संघ सरकार की राजभाषा के रूप में हिंदी का विधान तथा राज्य सरकारों की राजभाषाओं के रूप में राज्य की भाषाओं का विधान इसी का परिणाम है। इसी प्रकार त्रिभाषा सूत्र, न्यायालय की भाषा तथा विभिन्न स्तरों पर शिक्षा-माध्यम के रूप में विभिन्न भारतीय भाषाओं का विधान किया गया है।

भाषाओं की एक बार भूमिका या स्थिति निर्धारित हो जाने के बाद उन भाषाओं को अपनी निर्दिष्ट भूमिका निर्वाह करने में समर्थ बनाने के लिए उनकी 'काया' का विकास कायिक नियोजन

2484 HA/99 – 2

के अंतर्गत आता है। उदाहरणार्थ, राजभाषा की भूमिका के निर्वाह के लिए उस भाषा में पर्याप्त संख्या में शासकीय साहित्य, प्रशासन शब्दावली तथा राजभाषा शिक्षण-कार्यक्रम का विकास करना जरूरी है। शिक्षा माध्यम के लिए उस भाषा में विभिन्न विषयों के वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्द, तकनीकी साहित्य और विश्वकोशों का विकास करना जरूरी है। संपर्क भाषा के रूप में उस भाषा में पर्याप्त संख्या में शब्दकोश, शिक्षण-सामग्री, पाठ्य पुस्तकें आदि का विकास करना जरूरी है। भारत में विभिन्न शासकीय तथा स्वायत्त संस्थाओं के माध्यम से ये कार्य-संपन्न किए जा रहे हैं।

इन सभी प्रयासों का उद्देश्य भाषाओं का आधुनिकीकरण कर इनकी अभिव्यक्ति क्षमता को विकसित करना और इन्हें आधुनिक वैज्ञानिक तथा तकनीकी प्रयोजनों के लिए समर्थ बनाना है। आधुनिकीकरण प्रक्रिया के फलस्वरूप भाषा की प्रयोग संभावनाओं में अत्यधिक विस्तार आता है। यह विस्तार हमेशा व्यवस्थित या समरूप हो यह आवश्यक नहीं। कभी-कभी यह विस्तार दिशाहीन या निर्बाध भी हो सकता है और कभी-कभी अत्यंत व्यक्तिनिष्ठ या क्षेत्रीय भी। यहीं पर भाषा के मानकीकरण का प्रश्न महत्वपूर्ण हो जाता है। मानकीकरण व्यवस्था भाषा-रूपों के मुक्त विस्तार को मर्यादित करता है तथा उनमें समरूपता लाता है। आधुनिकीकरण भाषा की संभवनाओं का विस्तार है। मानकीकरण भाषा के विस्तार का परिसीमन है।

मानकीकरण प्रक्रिया के सोपान

हिंदी के संदर्भ में मानकीकरण प्रक्रिया के तीन सोपान महत्वपूर्ण हैं :

(1) मानकीकरण प्रक्रिया का पहला सोपान है "रूपों की विविधता को कम-से-कम करना"। मानकता की स्थिति से पूर्व एक ही तकनीकी संकल्पना के लिए एक से अधिक शब्द या रूप प्रचलन में हो सकते हैं या एक शब्द के एकाधिक अर्थ हो सकते हैं। एक ही संकल्पना के लिए एक से अधिक शब्दों या रूपों में से एक शब्द या रूप का चयन मानकीकरण प्रक्रिया का पहला सोपान है। इसे हॉगेन (1966) कोडीकरण (Codification) की प्रक्रिया कहते हैं। पिटकार्डर (1950) इसे अंतर्राष्ट्रीयता का गुण कहते हैं। न्युस्तुप्नी (1970 : 77-98) इसे स्थिरीकरण (Stabilisation) कहते हैं। कोडीकरण के फलस्वरूप ही समान विषय-क्षेत्रों में काम करने वाले विशेषज्ञों के बीच, चाहे वे किसी भी दूरस्थ क्षेत्र या देश में हों, सफल संप्रेषण संभव होता है। इससे भाषा-रूपों में समरूपता आती है और अर्थ और शब्द का संबंध रूढ़ होता है। इसका प्राप्य लक्ष्य है : 'एक रूप, एक अर्थ'। उदाहरण के लिए, हिंदी में एक ही ध्वनि के लिए एक से अधिक वर्ण-रूप प्रचलित थे और एक ही तकनीकी संकल्पना के लिए एक से अधिक शब्द। इनमें से एक का चयन कर मानक रूप स्थिर किया गया। देखिए :

	प्रचलित	चयन
(1)	अ, ॲ	अ
	झ, झ़	झ
(2)	गयी, गई	गई
	नये, नए	नए
(3)	लट्ठा, लट्ठा	लट्ठा
	भक्त, भक्त	भक्त
(4)	निर्देशक, निदेशक	निदेशक
	संचालक, प्रबंधक	
(5)	इंजीनियर, अभियंता, तंत्री	इंजीनियर/ अभियंता

(2) भाषा व्यवहार के अधिक से अधिक क्षेत्रों में इन रूपों का व्यापक प्रयोग मानकीकरण प्रक्रिया का दूसरा चरण है जिसे हॉगेन (1966) विस्तारीकरण (Elaboration) कहते हैं। विस्तारीकरण का तातपर्य है "व्यवहार या प्रकार्य की विविधता को अधिक-से-अधिक बढ़ाना"। दूसरे शब्दों में, अभीष्ट अर्थ में शब्दों या रूपों को रूढ़ कर देना या अनेक विकल्पों में से एक विकल्प का चयन करना ही मानकीकरण के लिए पर्याप्त नहीं। अधिक-से-अधिक व्यवहार-क्षेत्रों में इनका अभीष्ट अर्थों में प्रयोग भी उतना ही आवश्यक है। इनका प्रयोग-क्षेत्र जितना व्यापक होगा ये उतने ही अधिक मानक होंगे। इसी प्रक्रिया में इन शब्दों का प्रयोग-परीक्षण भी होता है जिससे इन्हें सामाजिक स्वीकृति या अस्वीकृति मिलती है। इसी प्रक्रिया के दौरान इन विकल्पों का पुनरीक्षण और संशोधन भी होता रहता है। मानकता के उद्देश्य से शब्दों या रूपों का चयन या निर्माण अपने में लक्ष्य नहीं, बल्कि प्रयोग तक पहुंचने का पहला चरण है। नए विकल्पों की सार्थकता उनके प्रयोग में है। यदि ये विकल्प प्रयोग या प्रचलन में नहीं आ पाते तो चयन की दृष्टि से उत्कृष्ट होते हुए भी ये निरर्थक हैं। प्रयोगसिद्धि ही नवनिर्मित शब्दावली की एकमात्र कसौटी है। कहना न होगा हिंदी के अधिकांश शब्द या लिपि-रूप जो चयन प्रक्रिया से गुजर चुके हैं इस सोपान पर प्रयोग के लिए संघर्ष कर रहे हैं।

(3) मानकीकरण की यह प्रक्रिया भाषा को उसके अंतिम सोपान शैलीकरण (Stylisation) की ओर ले जाती है (न्यूस्तुप्नी 1970)। यह वह स्थिति है जंब भाषा में विशिष्ट ज्ञानक्षेत्र या व्यवहार-क्षेत्र के अनुकूल तकनीकी शैली का विकास होता है। यह तकनीकी शैली विशिष्ट व्यवहार-क्षेत्र से जुड़ी होती है और अपने शैली-वैशिष्ट्य के कारण अन्य व्यवहार-क्षेत्रों की भाषा-शैली से भेद बनाए रखती है, जैसे कार्यालय, उद्योग, पत्रकारिता, गणित, अर्थशास्त्र आदि अलग-अलग विषय-क्षेत्रों में प्रयुक्त विशिष्ट प्रकार की तकनीकी भाषा-शैली का विकास, जिसे हैलिडे (1964), प्रयुक्ति (Register) की संज्ञा देते हैं। यह मानकीकरण के क्रम में भाषा के उच्च विकास की स्थिति का परिचायक है।

सैद्धांतिक स्तर पर मानकीकरण की जो अपेक्षाएं पश्चिमी देशों में हैं वे भारत में भी हों यह आवश्यक नहीं। दोनों की स्थितियों में कुछ आधारभूत अंतर द्रष्टव्य हैं :

(क) पश्चिम के अधिकांश देश सामूहिक स्तर पर एकभाषी हैं। भारत बहुभाषी देश है। अत: हिंदी के मानक शब्दों या रूपों पर विभिन्न भाषा-भाषियों की मातृभाषा के व्याघात का दबाव काफी प्रबल रहता है। इसके अलावा हिंदी-उर्दू शैलियों की विद्यमानता के कारण वैकल्पिक शब्द या रूप प्राप्त होते हैं। फलस्वरूप मानकता में कहीं-कहीं लचीलापन स्वीकार करने की आवश्यकता पड़ती है।

(ख) पश्चिम में भाषाओं का मानकीकरण अधिकांशत: प्राकृतिक प्रक्रिया से हुआ है, क्योंकि ज्ञान-विज्ञान के अधिकांश तकनीकी शब्द तथा भाषा-रूप मौलिक विचारकों या वैज्ञानिकों द्वारा बनाए गए हैं। इसके विपरीत, भारत में मूल संकल्पना तथा हिंदी पर्याय के बीच अंग्रेजी शब्द की स्थिति है जो विशेषत: शब्द तथा शैलीकरण के स्तर पर, भाषा को कहीं सकारात्मक और कहीं नकारात्मक ढंग से प्रभावित करता है।

(ग) शब्द तथा वाक्य-रचना के स्तर पर भारत में अनुवाद पद्धति की बहुत बड़ी भूमिका रही है। विशेष रूप से विज्ञान तथा तकनीकी ज्ञान के क्षेत्र में जहां व्यक्ति अंग्रेजी के माध्यम से ज्ञान अर्जित करता है मस्तिष्क में अंग्रेजी शब्दों और रूपों की विद्यमानता उसे हिंदी के नए शब्दों या रूपों को ग्रहण करने से रोकती है। अंग्रेजी विकल्प की विद्यमानता हिंदी विकल्प के प्रयोग-प्रसार तथा मानकीकरण की प्रक्रिया को धीमा कर देती है।

अत: भाषा-मानकीकरण की जो प्रक्रिया आज भारत के विशाल भूखंड में सक्रिय है वह अपने में इतनी गतिशील, बहुआयामी और विरोधाभासपूर्ण है कि इसे आयातित सिद्धांतों के सींखचों में परिसीमित कर पाना संभव नहीं। हमारा भाषा-समाज स्वयं भाषा-मानकीकरण की एक विराट प्रयोगशाला है जो कालांतर में एक नए भाषा-मानकीकरण सिद्धांत को जन्म दे सकता है।

□□

"राष्ट्रभाषा की उपेक्षा से
देश का भविष्य
अन्धकारमय हो जायेगा।"

- महादेवी

अखिल भारतीय शब्दावली और लिप्यंतरण

□डॉ० नरेंद्र व्यास

स्वतंत्रता-प्राप्ति के तत्काल बाद भारतीय मनीषियों का ध्यान इस ओर भी आकृष्ट हुआ कि देश के सर्वतोभिमुखी विकास के लिए अन्य बातों के साथ-साथ भारतीय भाषाओं को शिक्षा का माध्यम (अध्ययन-अध्यापन और परीक्षा-माध्यम—दोनों ही स्तरों पर) बनाया जाना आवश्यक है। इसके लिए भाषा-नियोजन का सहारा लिया गया। भाषा-नियोजन हिंदी और अन्य भारतीय भाषाओं की आधुनिकीकरण की प्रक्रिया का एक महत्वपूर्ण साधन बना। तदनुसार भारत के संविधान में हिंदी को राजभाषा का स्थान प्राप्त हुआ। यहीं नहीं, हिंदी के सुनियोजित विकास के लिए सुस्पष्ट विशेष निदेश की व्यवस्था भी की गई। विश्व के सांविधानिक इतिहास में कदाचित् इसे एक अभूतपूर्व और अद्वितीय घटना माना जा सकता है।

मानक तकनीकी शब्दावली

आधुनिक भारतीय भाषाओं के विकास के लिए पहली और सर्वाधिक महत्वपूर्ण आवश्यकता यह महसूस की गई कि इनमें प्रशासनिक और वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली का स्थिरीकरण, समन्वय और आवश्यकतानुसार नव-निर्माण किया जाए ताकि उस शब्दावली को अधिकृत मानकर मौलिक और अनूदित साहित्य तैयार किया-करवाया जा सके। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए पहले एक वैज्ञानिक शब्दावली मंडल गठित हुआ जिसने शब्दावली-निर्माण के मार्गदर्शक सिद्धांत निर्धारित किए। बाद में स्थापित वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग ने इन्हीं सिद्धांतों के अनुसार हिंदी में सभी विषयों की शब्दावलियां तैयार कर प्रकाशित कीं।

अखिल भारतीय शब्दावली

शब्दावली-निर्माण के प्रसंग में इस आयोग ने सदा इस बात का ध्यान रखा कि अनुमोदित हिंदी-शब्दावली ऐसी हो जिसका अधिकांश भाग ज्यों-का-त्यों अंगीकृत होकर या अपनी-अपनी भाषा की प्रकृति के अनुसार अनुकूलित होकर सभी भारतीय भाषाओं में प्रयुक्त हो सके। एकरूपता की स्थिति परस्पर गतिशीलता के मार्ग को सुगम बनाने में सहायक सिद्ध होती है।

एकरूपता की आवश्यकता

तकनीकी शब्दावली की प्रयोग-स्थिरता के लिए पर्याप्त समय चाहिए। समय की मांग को ध्यान में रखते हुए हिंदी में जो विपुल तकनीकी साहित्य अनुवाद या मौलिक लेखन के रूप में सामने आया, उसमें से अधिकांश में तो आयोग द्वारा निर्मित शब्दावली का ही प्रयोग मिलता है; किंतु ऐसी रचनाएं भी कम नहीं हैं जिनमें अंग्रेजी शब्दों के पर्याय मनमाने ढंग से गढ़ लिए गए लगते हैं। परिणाम यह हुआ कि तकनीकी शब्दावली के प्रयोग के क्षेत्र में जहां एकरूपता की नितांत आवश्यकता थी वहां बहुत-कुछ अराजकता की स्थिति दृष्टिगोचर होने लगी। हिंदी में तो फिर भी गनीमत थी, किंतु अन्य भारतीय भाषाओं में यह स्थिति और भी दयनीय हो उठी क्योंकि वहां शब्दावली-निर्माण का कार्य या तो संस्थागत रूप में हुआ ही नहीं या शुरू हुआ भी तो बहुत देर से।

आवश्यकता इस बात की थी कि अखिल भारतीय दृष्टिकोण को अपनाते हुए शब्दावली आयोग ने जिस वैज्ञानिक और तकनीकी शब्दावली का विकास किया था उसी को आरंभ से ही अन्य भारतीय भाषाओं में भी यथावत् या अनुकूलित रूप में अधिकांशत: अपना लिया जाता। पर ऐसा हुआ नहीं। शायद इसका कारण यह रहा हो कि अखिल भारतीय स्वरूप के बावजूद बहुत समय तक इस शब्दावली को हिंदी की शब्दावली कह कर प्रचारित-प्रसारित किया जाता रहा। एक प्रमुख कारण शायद यह भी माना जा सकता है कि यह शब्दावली चूंकि देवनागरी लिपि में प्रकाशित हुई थी (जो स्वाभाविक ही था), अत: इसे केवल हिंदी के साथ जोड़कर ही देखा गया। यदि शब्दावली आयोग आरंभ से ही समस्त शब्दावली को या कम-से-कम सभी विषयों की आधारभूत शब्दावली को तो अवश्य ही कुछ प्रमुख भारतीय भाषाओं की लिपियों में अंतरित (लिप्यंतरित) करवा देता तो नवनिर्मित तकनीकी शब्दावली को केवल हिंदी की शब्दावली मानने का भ्रम न फैलता। किंतु जब इस अभाव की पूर्ति की ओर आयोग का ध्यान आकृष्ट किया गया तब तक सभी राज्यों में राज्य-पुस्तक मंडलों की स्थापना हो चुकी थी। इन मंडलों को चाहिए

सी-4ए,-52बी, जनकपुरी, नई दिल्ली

था कि तकनीकी पुस्तकों के निर्माण का कार्य शुरू करने से पहले वे संबंधित भाषाओं की लिपियों में अंगीकृत या अनुकूलित विषयवार तकनीकी शब्दावलियों का प्रकाशन करते। देर तो बहुत हो चुकी है फिर भी 'देर आयद दुरुस्त आयद' के अनुसार यदि अब भी ऐसा हो सके तो कम-से-कम भविष्य का मार्ग तो प्रशस्त हो सकेगा।

उपर्युक्त अभाव की आंशिक पूर्ति को ध्यान में रखते हुए इसी आयोग ने लगभग डेढ़ दशक पहले विषयवार आधारभूत तकनीकी शब्दों के लिए अखिल भारतीय पर्यायों की पहचान/निर्माण की परियोजना शुरू की। अब तक 18 विषयों के ऐसे लगभग 20,000 शब्दों की पहचान कर ली गई है जिन्हें सभी या अधिकांश भारतीय भाषाओं में समान रूप से व्यवहृत किया जा सकता है। राज्य-पुस्तक मंडलों के सक्रिय सहयोग से केंद्र सरकार द्वारा पूरा वित्तीय भार वहन करने वाली इस परियोजना को अब उल्लिखित सुझावानुसार परिवर्धित रूप में तीव्र गति से पूरा करने की आवश्यकता है।

रोमन लिप्यंतरण

अब तक जो अखिल भारतीय शब्दावलियां प्रकाशित हुई हैं उनमें संबंधित विषयों के आधारभूत अंग्रेज़ी तकनीकी शब्द संकलित हैं। इन मूलभूत संकल्पनात्मक शब्दों के अखिल भारतीय पर्याय देवनागरी और रोमन—दोनों लिपियों में इस उद्देश्य से दिए गए हैं ताकि उन्हें पुन: संबंधित भाषाओं में लिप्यंतरित किया जा सके। जैसा कि स्पष्ट है, अधिकतर पर्याय संस्कृतमूलक हैं। भारतीय भाषाओं के विकास की स्थिति को देखते हुए यह तथ्य स्वाभाविक तो है ही, संविधान के अनुच्छेद 351 में दिए गए निदेश के अनुकूल भी है। कुछ तथाकथित अंतरराष्ट्रीय शब्द तथा कुछ पूर्व प्रचलित अरबी-फारसीमूलक शब्द भी अधिकांश भारतीय भाषाओं में मान्य हैं जिन्हें क्रमश: अंग्रेजी उच्चारण के अनुसार तथा प्राय: यथावत् उच्चारण के रूप में अपना लिया गया है। जिस भाषा या जिन भाषाओं में इन शब्दों में से कुछ के लिए यदि पहले से ही क्षेत्रीय पर्याय प्रचलित हैं तो अपवादस्वरूप उस भाषा को अपने पूर्व प्रचलित शब्द का प्रयोग करते रहने की छूट दी गई है।

देखा जाए तो अखिल भारतीय शब्दावली की पहचान और उसके प्रयोग से संबंधित जो उपर्युक्त सिद्धांत अपनाए गए हैं वे अत्यंत व्यावहारिक और उपयोगी हैं। फिर भी अखिल भारतीय शब्दावली की पहचान के लिए जो प्रक्रिया अपनाई गई है उसमें वैज्ञानिक शोध-प्रक्रिया के अनुपालन के साथ-साथ यादृच्छिकता भी दिखाई देती है। यहां बस इतना ही संकेत देना पर्याप्त होगा। यह विषय एक अलग लेख की मांग करता है। इस लेख को अखिल भारतीय शब्दावली का लिप्यंतरण पद्धति तक ही सीमित रखा जा रहा है।

इस शब्दावली की पहचान अखिल भारतीय स्तर पर एकरूपता बनाए रखने के उद्देश्य से की गई है। किंतु देखने में आया है कि एकरूपता का यह पावन उद्देश्य इन सभी प्रकाशित विषयवार शब्दावली-पुस्तिकाओं में अनेक स्तरों पर और विशेषकर लिप्यंतरण के स्तर पर बिखर सा गया है। कुछ पुस्तिकाओं में रोमन लिप्यंतरण दूसरे स्तंभ में दिया गया है तो कुछ पुस्तिकाओं में तीसरे स्तंभ में। यों तो प्राय: सभी पुस्तिकाओं में तीन ही स्तंभ हैं किंतु किसी-किसी पुस्तिका में (उदाहरण के लिए समाजविज्ञान एवं सांस्कृतिक नृविज्ञान, भौतिकी आदि की पुस्तिकाओं में) अपवादों से संबंधित चौथा स्तंभ भी मिलता है। यही नहीं गृहीत लिप्यंतरित अंग्रेजी शब्द को कहीं रोमन लिप्यंतरण वाले स्तंभ में केवल T देकर छोड़ दिया गया है। तो कुछ में उसका पूरा लिप्यंतरण मिलता है।

यदि मुद्रण की अशुद्धियों को अनदेखा कर भी दें तब भी देखने में आया है कि रोमन लिप्यंतरण में एकरूपता का अभाव है। यों तो रोमन लिप्यंतरण की संकेत पद्धति को समझने के लिए आरंभ में 'कुंजी' दी गई है फिर भी कुल मिलाकर देखा गया है कि रोमन लिप्यंतरण में भारी भूलें हुई हैं, जिनकी वजह से भारतीय भाषाओं की लिपियों में उनका पुनर्लेखन करते समय अर्थ का अनर्थ हो जाने की संभावना है। कुछ भूलें इस प्रकार हैं :

1. भले ही आरंभ में रोमन लिप्यंतरण की कुंजी दे देने से लिप्यंतरित शब्द को पढ़ने में कोई कठिनाई नहीं आती, फिर भी आयोग (या केंद्रीय हिंदी निदेशालय) को चाहिए कि अब वह अपनी (अर्थात् भारत सरकार की) एक मानक रोमन लिप्यंतरण पद्धति अवश्य विकसित कर ले। इसका उल्लेख यहां इसलिए आवश्यक है कि भारत सरकार के ही अलग-अलग समय के अलग-अलग प्रकाशनों में अलग-अलग लिप्यंतरण पद्धति अपनाते रहने की परंपरा दिखाई पड़ती है। मुझे स्मरण है कि तत्कालीन शिक्षा मंत्रालय के हिंदी प्रभाग ने (केंद्रीय हिंदी निदेशालय के पूर्व रूप ने) सन् 1958 में 'रोमन लिप्यंतरण की मानक पद्धति' प्रकाशित की थी जिसमें अंग्रेजी शब्दों के ही नहीं अपितु अन्य भारतीय भाषाओं एवं कुछ आदिवासी बोलियों के विशेष स्वनों के लिए विशेषक चिह्न सुझाए गए थे। इसी पद्धति को ध्यान में रखते हुए आगे चलकर समस्त

2484 IIA/99—3

भारतीय भाषाओं के लिए सामान्य राष्ट्रलिपि के रूप में 'परिवर्धित देवनागरी' का प्रकाशन सन् 66 में किया गया और कालांतर में उसे अंतिम रूप भी दिया गया। लगता है, शायद किसी को स्मरण ही नहीं है कि राष्ट्रीय स्तर पर इस क्षेत्र में पहले भी कुछ काम हुआ है। इसी वजह से नित नई पद्धतियों की खोज की जा रही है। अस्तु।

2. इन सभी पुस्तिकाओं में हिंदी वर्णमाला के ए और ओ स्वरों के लिए निर्धारित रोमन वर्णों पर दीर्घतासूचक विशेषक चिह्न लुप्त कर दिया गया है (जबकि 1958 वाली कुंजी में दीर्घता और ह्रस्वत्व वाले इस भेद को बनाए रखने पर नियम 1 में ही विशेष बल दिया गया था)। अनेक भाषाओं विशेषकर दक्षिण की भाषाओं में और अंग्रेजी में भी, यह भेद आज भी सार्थक है। अत: इन दोनों स्वरों के साथ अनिवार्यत: दीर्घतासूचक विशेषक चिह्न का प्रयोग होना चाहिए।

3. अंग्रेजी और अरबी फारसी से गृहीत विदेशी स्वरों क़ ka, ख़ kha, ग़ ga, ज़ za और फ़ fa) में से ख़, ज़ और फ़ का भेद बनाए रखने की सार्थकता तो आज भी है किंतु क़ और ग़ का उच्चारण सामान्य हिंदी भाषी की ज़ुबाँ से लुप्त हो गया है। इसलिए जब तक शुद्धतावाद का आग्रह न हो तक तक क़िला और ग़ालिब न तो कोई बोलता है और न ही लिखता है। ऐसी स्थिति में केवल सीमित संदर्भ में ही इन दोनों व्यंजनों का लिप्यंतरण ka और ga के रूप में किया जाना वांछनीय है।

4. प्रकाशित शब्दावलियों में सर्वाधिक बड़ी अशुद्धि वर्गीय पंचमाक्षरों के रोमनीकरण से संबंधित है। एक-दो प्रकाशनों को छोड़कर लगभग सभी पुस्तिकाओं की कुंजियों में अनुस्वार के लिए m̤ के प्रयोग का अनुदेश है। किंतु वहां कोष्ठक में (य से ह के पहले) लिख कर उसे सीमित नहीं किया गया है। शाब्दिक स्तर पर ब्रह्मवाक्य मानकर जहां भी वर्गीय पंचमाक्षरों के लिए हिंदी में प्रचलित और मानकीकृत पद्धति अपनाते हुए अनुस्वार का (शिरोरेखा पर बिंदु का) प्रयोग किया जाता है वहां भी सर्वत्र इसे m̤ से संकेतित किया है, जो सर्वथा अशुद्ध है। यदि उसी कुंजी में इन सभी पंचमाक्षरों के लिए (विशेषकर पहले तीन पंचमाक्षरों के लिए) n के साथ विशेषक चिह्न लगाने की व्यवस्था की गई होती तो शायद इस प्रकार की गलती न होती। कहीं-कहीं तो 'म्' को व्यंजित करने वाले अनुस्वार (बिंदु) के लिए भी m̤ का प्रयोग किया गया है।

5. हिंदी में शब्दांत में और अक्षर-विभाजन करते समय 'अ' का उच्चारण नहीं होता—यह स्पष्ट नियम है। पर ऐसी स्थिति में लेखन में हल् चिह्न का प्रयोग न कर उसे अकारांत से प्रकट करने की ही परंपरा रही है। इन शब्दावलियों में सर्वत्र अंतर्निहित स्वर (अ) के लिए a का प्रयोग किया गया है। यहां तक कि हलंत शब्दों (जिन्हें कुछ लोग हलंत नहीं लिखते, जैसे विद्युत के स्थान पर विद्युत आदि) तथा अंग्रेजी के आगत शब्दों (जिनके अंत में a का उच्चारण नहीं होता, जैसे सिविल इंजीनियरी में clip, clutch, girder, gutterआदि अनेक शब्दों का अंत भी a से किया गया है।)

तत्सम शब्दावली के अंत में a आए तो ठीक है, किंतु हिंदी के तद्भव और देशज तथा विदेशी शब्दों के अंत में रोमन लिप्यंतरण करते समय a लिखना उचित नहीं होगा। इसी तरह शब्द के मध्य में अक्षर-विभाजन की स्थिति में अ के उच्चारण के लोप को दर्शाने के लिए a के लोप के स्थान पर और कोई युक्ति (जैसे बिंदु या मध्यरेखा का प्रयोग kar.a) अपनाई जा सकती है।

सारांश यह है कि अखिल भारतीय शब्दावली की पहचान करते समय सुनिश्चित वैज्ञानिक अनुसंधान प्रणाली अपनाए जाने की आवश्यकता है और यदि इस शब्दावली का रोमन लिप्यंतरण करना अनिवार्य ही हो तो वह शत-प्रतिशत सही और स्पष्ट होना चाहिए।

देवनागरी से सीधे भारतीय भाषाओं में लिप्यंतरण

अब समय आ गया है कि अखिल भारतीय शब्दावली की रोमन लिप्यंतरण सहित छोटी विषयवार शब्दावलियां प्रकाशित करने के स्थान पर भाषावार द्विभाषी या त्रिभाषी समेकित तकनीकी शब्दावलियां प्रकाशित की जाएं जिनमें आयोग द्वारा स्वीकृत देवनागरी में लिखित पर्यायों के अंगीकृत या अनुकूलित रूपों का सीधे ही संबंधित भाषाओं की लिपियों में (रोमन के माध्यम से नहीं) अंकन हो। ऐसे तकनीकी कोश त्रिभाषी (अंग्रेजी-हिंदी-देवनागरी में—संबंधित भाषा की अपनी लिपि में) हो सकते हैं और बहुभाषी भी (अंग्रेजी-हिंदी-अन्य सभी भारतीय भाषाएं)। आयोग की भगिनी संस्था केंद्रीय हिंदी निदेशालय ने इसी प्रकार के सामान्य कोश (तत्सम शब्दकोश और भारतीय भाषा कोश नाम से) प्रकाशित किए हैं। तकनीकी कोशों के प्रकाशन में उनका अनुकरण किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में रोमन लिप्यंतरण का पुछल्ला नहीं पकड़ना होगा। निस्संदेह अपनी-अपनी लिपियों में अखिल भारतीय प्रयोग के लिए शब्दावलियों के प्रकाशन से समरूपी शब्दावली की ग्राह्यता बढ़ेगी।

पारिवारिक न्यायालय : पृष्ठभूमि, प्रावधान एवं प्रगति

☐ पवन चौधरी 'मनमौजी'

पृष्ठभूमि

पारिवारिक जीवन में क्रूर असलियतों, कृत्रिम अंध-विश्वासों अथवा कमजोर आशंकाओं की आंधी अच्छी नहीं होती। इसके परिणाम बुरे होते हैं। इस आंधी पर जितना जल्दी काबू पा लिया जाए, उतना ही पारिवारिक प्रियजनों के लिए परोपकारी होता है, यदि पारिवारिक समस्याओं के समाधान हेतु प्रार्थियों एवं प्रतिवादियों तथा उनके सगे-संबंधियों को अदालतों के अंदर सालों घसिटना पड़े, उनके निर्णयों के लिए तरसना-तड़पना पड़े, निर्णयों पर आवश्यक कार्यवाही की अनिश्चितता के अंधेरे में रेंगना पड़े, न्याय-युद्ध के दौरान असंख्य पर्चों खर्चों में स्वयं को खपाना पड़े, और अंततः असफलता का सामना करना पड़े, तो ऐसे में पारिवारिक जीवन के खूबसूरत महल का खौफनाक खंडहर में परिवर्तित होना स्वाभाविक है।

पारिवारिक न्यायालयों की परिकल्पना सर्वप्रथम अमेरिका में की गई थी। किशोर अपराधियों के प्रकरणों पर निर्णय देने के लिए वहां सन् 1899 में पहली बार ऐसी अदालत स्थापित की गई थी। इसके बाद, सन् 1910 में अमेरिका में ही न्यूयार्क के अपोलो नगर में घरेलू संबंधों से संबंधित पहली अदालत कायम की गई, इसका कार्य परित्यक्ता पत्नियों और उनके निर्वाह-भता के संबंध में निर्णय करना था।

जापान ने पारिवारिक न्यायालयों की योजना को विशेष रूप से कानूनी मान्यता दी और इस परिकल्पना को पूर्णता प्रदान की। सन् 1949 में, जापान में परिवार-न्यायालयों को स्वतंत्र न्यायालय का दर्जा मिला। अब वहां परिवार-न्यायालयों का स्तर जिला अदालत जैसा है, अर्थात् जहां-जहां जिला अदालत है वहां-वहां पारिवारिक-न्यायालय हैं। इनका अधिकार-क्षेत्र, पारिवारिक विवादों के अतिरिक्त, किशोर अपराधियों के अपराधों का निपटारा करना है। इसमें बाल-कल्याण कानून के विरुद्ध वयस्कों द्वारा किए गए अपराधों के मामले भी शामिल हैं। ये न्यायालय दोनों पक्षों में सुलह-समझौते की भरसक कोशिश करते हैं। समझौता न हो सकने की स्थिति में प्रकरण आगे बढ़ता है। प्रत्येक पारिवारिक न्यायालय के लिए मनोवैज्ञानिक उपलब्ध कराया जाता है, इस न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध उच्च न्यायालय में अपील की व्यवस्था है। आस्ट्रेलिया में भी 1975 के कानून के अंतर्गत पारिवारिक न्यायालय गठित किए गए हैं। बहुत से समाजवादी देशों में समाज कल्याण विभाग के अंतर्गत समझौता समितियां बनाई गई हैं, जिनका उद्देश्य परिवारों को टूटने से बचाना है।

भारत में पारिवारिक 'न्यायालयों' की परिकल्पना नई नहीं है। प्राचीन-काल में पंचायत-व्यवस्था इसी भावना से काम करती रही है, पारिवारिक विवादों का निपटान सुलह-समझौते से करवाती रही है, और परिवारों को टूटने से बचाती रही है। ब्रिटिश शासन काल में स्थापित राजकीय न्यायालय पद्धति ने पंचायत व्यवस्था का महत्व भले ही कम कर दिया हो, लेकिन सुलह-समझौते से विवादों के निपटान की भावना सदैव जीवित रही है, इसी भावना से ओत-प्रोत होकर भारतीय विधि आयोग ने सन् 1974 में अपनी 59वीं रिपोर्ट में एक महत्वपूर्ण सुझाव दिया था। परिवार संबंधी विवादों के निपटान के लिए, न्यायालय को सामान्य सिविल कार्यवाही से निम्न रास्ता अपनाना चाहिए और जांच आरंभ करने से पूर्व समझौते के लिए पर्याप्त प्रयत्न करने चाहिए। विधि आयोग के सुझाव पर, 1976 में दीवानी न्यायालयों की कार्यप्रणाली की संहिता में परिवर्तन हेतु संशोधन किया गया। इस संशोधन के अनुसार, सामान्य न्यायालय के लिए परिवार संबंधी विवादों में विशेष प्रक्रिया की व्यवस्था की गई। परन्तु, इस प्रावधान के बावजूद, अपेक्षित परिणाम नहीं निकले।

प्रावधान

पारिवारिक जीवन की जटिल समस्याओं के शीघ्र समाधान हेतु, सन् 1984 में भारतीय संसद ने एक अधिनियम पारित किया था। पारिवारिक न्यायालय अधिनियम, उसी वर्ष, 14 सितंबर के दिन, राष्ट्रपति ने इस अधिनियम को अपेक्षित सहमति भी दे दी। यह अधिनियम समूचे देश पर लागू है, केवल जम्मू और कश्मीर राज्य को छोड़कर। इस अधिनियम में सभी राज्यों में पारिवारिक न्यायालय स्थापित करने संबंधी प्रावधान है।

ई-31, मानसरोवर गार्डन, नई दिल्ली

इस अधिनियम के अंतर्गत स्थापित होने वाली अदालतों की प्रगति पर प्रकाश डालने से पहले, इस अधिनियम के प्रमुख प्रावधानों का संक्षिप्त उल्लेख करना आवश्यक है। सबसे पहले, इस अधिनियम के अनुसार, पारिवारिक न्यायालय का अभिप्राय अधिनियम की धारा 3 के अंतर्गत स्थापित न्यायालय से है। अधिनियम के अध्याय 2 की एक धारा में कहा गया है कि अधिनियम के अंतर्गत पारिवारिक न्यायालयों को सौंपे गए दायित्वों को पूरा करने के लिए प्रत्येक राज्य सरकार शीघ्र-अतिशीघ्र पारिवारिक न्यायालय स्थापित करेगी। अधिनियमानुसार, यह न्यायालय दस लाख आबादी वाले नगरों एवं महानगरों, में अपेक्षित हैं, परंतु, यदि आवश्यक समझा जाए तो दस लाख से कम आबादी वाले नगरों-कस्बों में भी इनके स्थापित होने पर कोई रोक-टोक नहीं है। पारिवारिक न्यायालय स्थापित करने से पहले राज्य सरकार द्वारा अपने उच्च न्यायालय से परामर्श करना आवश्यक है। यह न्यायालय अधिसूचना द्वारा स्थापित किए जा सकते हैं।

इन न्यायालयों में जजों की नियुक्ति एवं योग्यताओं के बारे में भी, अधिनियम के अंतर्गत विस्तृत एवं स्पष्ट प्रावधान है। धारा 4 की उपधारा 3 के अनुसार, ऐसा कोई भी व्यक्ति पारिवारिक न्यायालय का जज नियुक्त होने योग्य नहीं होगा, जिसने भारत के किसी न्यायिक पद पर, ट्रिब्यूनल के सदस्य अथवा केन्द्रीय या राज्य सरकार के किसी ऐसे पद पर कम-से-कम सात साल तक कार्य नहीं किया है जहां कानून के विशेष ज्ञान की आवश्यकता होती है। ऐसे व्यक्ति को भी पारिवारिक न्यायालय का जज नियुक्त किया जा सकता है, जिसके अंदर वह योग्यताएं विद्यमान हैं, जो केन्द्रीय सरकार, भारत के मुख्य न्यायाधीश की सहमति के साथ निर्धारित करे। उपधारा 4 के अंतर्गत यह स्पष्ट कर दिया गया है कि ऐसे व्यक्तियों को पारिवारिक न्यायालयों में जज नियुक्त करने के प्रयास किए जाएंगे जो वास्तव में विवाह, विशेषत: बाल कल्याण संबंधी गुत्थियां सुलझाने का अनुभव रखते हों। महिलाओं को भी इन नियुक्तियों में प्राथमिकता दी जाएगी। बासठ अथवा अधिक वर्ष की आयु वाले व्यक्ति को पारिवारिक न्यायालयों का जज नियुक्त होने योग्य नहीं समझा जाएगा।

पारिवारिक न्यायालयों का कार्यक्षेत्र बहुत व्यापक है। यह केवल विवाह संबंधी किसी प्रकार के विवादों तक सीमित नहीं है। इसके अंदर वैवाहिक समस्याओं, संपत्ति, भरण-पोषण, संरक्षण एवं दत्तक इत्यादि संबंधी समस्याएं शामिल हैं। उदाहरण के तौर पर, विवाह की वैधता, न्यायिक पृथकता, विवाह-विच्छेद, विवाहितों के संपत्ति संबंधी अधिकार इत्यादि। दूसरे शब्दों में, हिन्दू विवाह अधिनियम, विशेष विवाह अधिनियम, मुस्लिम विवाह विच्छेद अधिनियम, संरक्षता एवं प्रतिपाल्य अधिनियम, हिन्दू दत्तक एवं भरण-पोषण अधिनियम तथा दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 125 के प्रावधानों के अंतर्गत प्रस्तुत किए जाने वाले सभी प्रकार के प्रार्थना पत्र केवल पारिवारिक न्यायालयों में पेश किए जा सकते हैं। किसी राज्य में पारिवारिक न्यायालय स्थापित होते ही इन मामलों की सुनवाई का अधिकार अन्य अदालतों के निर्णय-अधिकार क्षेत्र से बाहर हो जाता है।

पारिवारिक न्यायालयों संबंधी कुछ अन्य महत्वपूर्ण प्रावधान इस प्रकार हैं—सामान्यत: अधिवक्ताओं को इनके सम्मुख पेश होने का अधिकार नहीं होगा। दूसरे, इन न्यायालयों द्वारा सुनाए गए अंतरिम आदेशों के विरुद्ध किसी भी न्यायालय द्वारा कोई अपील-दलील नहीं सुनी जाएगी। तीसरे, इन न्यायालयों के जज इनके सम्मुख पेश किए गए विवादों में सहमति, आपसी समझौता इत्यादि के लिए प्रयास करेंगे और इन प्रयासों में असफल होने पर न्यायिक प्रक्रिया के अनुसार चलेंगे। चौथे, इन न्यायालयों को विशेष परिस्थितियों में, अपनी प्रक्रिया स्वयं निर्मित करने का अधिकार होगा। अधिनियम की धारा 12 में न्यायालय द्वारा प्रकरणों के निस्तारण के लिए चिकित्सकों की सहायता लेने संबंधी प्रावधान भी है। अधिकांशत: प्रार्थीगण अपने तथ्यों के समर्थन में गवाही शपथपत्र के रूप में देंगे। तर्क लिखित में पेश किए जा सकते हैं। न्यायालय द्वारा निर्णय लिखित रूप में देना अनिवार्य है, इत्यादि।

प्रगति

अब रहा सवाल पारिवारिक न्यायालयों की प्रगति का हालांकि अधिनियम को पारित हुए लगभग चौदह साल हो चले हैं, परंतु इसके अंतर्गत समूचे देश में पारिवारिक न्यायालय स्थापित नहीं हुए हैं। सबसे पहला न्यायालय राजस्थान के जयपुर में स्थापित हुआ था। इस न्यायालय ने 1-1-1986 को कार्य करना आरंभ कर दिया था। 31 मार्च, 1996 तक समूचे देश में 61 पारिवारिक न्यायालय स्थापित हो चुके थे। इनका विवरण इस प्रकार है—उत्तर प्रदेश (16), राजस्थान (5), महाराष्ट्र (13), उड़ीसा (2), कर्नाटक (4), तमिलनाडु (5), केरल (5), बिहार (2), असम (1), मणिपुर (1), आन्ध्र प्रदेश (6) और पांडेचरी (1)। जिन राज्यों ने पारिवारिक न्यायालय स्थापित करने के लिए निर्णय ले लिया है, उनमें शामिल हैं—मध्य प्रदेश, सिक्किम, पश्चिम बंगाल, हरियाणा, गुजरात। इन राज्यों के अलावा, अंडमान निकोबार द्वीप समूह प्रशासन तथा दिल्ली राष्ट्रीय राजधानी सरकार ने भी इसी प्रकार के निर्णय कर लिए हैं।

जयपुर में स्थापित न्यायालय के अंदर प्रथम 16 माह की अवधि में 813 प्रकरण अन्य न्यायालयों से अन्तरित होकर प्राप्त हुए और 1765 नए प्रकरण प्रस्तुत किए गए। इन सभी प्रकरणों में से कुल मिला कर, अप्रैल, 1997, के अंत तक 1532 प्रकरण न्यायालय द्वारा निस्तारित किए गये, यानी औसतन पचास प्रकरण प्रतिदिन। इन निस्तारित हुए प्रकरणों में 138 प्रकरण में पक्षकार ने फिर से इकट्ठे रहना मंजूर कर लिया, 53 प्रकरण के पक्षकार ने परस्पर समझौते के आधार पर तलाक लेकर मुक्ति पायी, 152 प्रकरणों में परस्पर समझौते के आधार पर भरण-पोषण भत्ता निर्धारित किया। 189 प्रकरणों में विवादों का निस्तारण गुण-अवगुण के आधार पर कराया गया और 960 प्रकरण विविध प्रकार से निस्तारित किए गए।

कानपुर और लखनऊ नगरों में पारिवारिक न्यायालय राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के जन्मदिन यानी 2 अक्तूबर, 1986 के दिन स्थापित किए गए। कानपुर में एक पारिवारिक न्यायालय के अंदर बीस जिला एवं फौजदारी न्यायालयों के अंदर सभी पारिवारिक किस्म के लंबित मुकदमों को स्थानांतरित कर दिया गया है। 1 अप्रैल, 1987 के दिन इन मुकदमों की कुल संख्या 1600 थी।

प्रतिक्रियाएं

जहां तक इस अधिनियम और इसके अंतर्गत पहले ही से स्थापित अथवा भविष्य में स्थापित होने वाली अदालतों पर प्रतिक्रियाओं का सवाल है, कुल मिलाकर यह मिश्रित प्रतिक्रियाएं कहलाने योग्य है। सर्वप्रथम, अधिनियम का उद्देश्य ही विवादास्पद प्रतीत होता है। विवादास्पद ही नहीं बल्कि हास्यास्पद भी। मसलन, अधिनियम का यह उद्देश्य तो समझ में आता है कि पारिवारिक समस्याओं का समाधान शीघ्र हो। परंतु, इसका परस्पर समझौते संबंधी पहलू विवादाग्रस्त है। इसी प्रकार, किसी भी न्यायालय के सम्मुख पक्षकारों में किसी भी प्रकार का समझौता अथवा सहमति तो समझ में आ सकती है, परंतु न्यायालय का जज इस समझौते अथवा सहमति के लिए स्वयं प्रयत्न करे, अथवा पक्षकारों को समझाए-बुझाए, इस बात का गले से नीचे उतरना सहज नहीं लगता।

पारिवारिक न्यायालय के जज का दोहरा आचरण भी विवादास्पद दिखाई पड़ सकता है। पहले, सौहार्दपूर्ण, मैत्रीपूर्ण, सहानुभूतिपूर्ण और बाद में न्यायिक, निष्पक्ष, निडर जबकि सामान्यत: जज का केवल एक ही चित्र दिल-दिमाग में उभरता आया है, और संभवत: सदा एक ही चित्र बना रहना समस्त समाज के लिए हितकर भी है। फिर, यह भी सत्य ही है कि विवाह संबंधी सभी प्रकार की समस्याओं के समाधान के लिए, पहले ही परिवार और समाज के विशिष्ट लोगों द्वारा प्रयत्न करने और इन प्रयत्नों में पूर्णत: असफल साबित होने के बाद, इन समस्याओं से पीड़ित व्यक्ति न्यायालय की ओर अग्रसर होने के लिए सोचते हैं, इसकी दहलीज पर कदम रखने का साहस करते हैं। इस सबके अलावा, एक मत यह भी हो सकता है कि सरकार उर्फ न्यायालय का मुख्य दायित्व है अधिनियम और नियम के अनुसार न्याय प्रदान करना, न कि सलाह-मशविरा देना, समझाना-बुझाना, समझौते-सहमति करवाना। माना, सरकार द्वारा भी सलाह-मशविरा देने की व्यवस्था की जा सकती है, किन्तु न्यायालयों अथवा जजों के माध्यम से नहीं।

दूसरे, अधिनियम में पारिवारिक न्यायालयों के जजों की अधिकतम आयु (62 वर्ष) तो लिखी हुई है, किन्तु न्यूनतम आयु का कहीं कोई जिक्र नहीं है। क्या सात साल तक न्यायिक पद पर काम करने वाले लगभग तीस अथवा पैंतीस वर्षीय व्यक्ति से वैवाहिक गांठों को सफलतापूर्वक सुनने-सुलझाने की अपेक्षा की जा सकती है? क्या यह ठीक नहीं रहता कि अधिकतम आयु के साथ-साथ न्यूनतम आयु (45 वर्ष, केवल सुझाव के तौर पर) के बारे में भी तनिक इशारा किया जाता। आयु में अध्ययन की अपेक्षा अनुभव का अपना अनोखा योगदान होता है, एक ऐसा सत्य है जिसे झुठलाना असंभव है।

पारिवारिक न्यायालयों के जजों की नियुक्तियों के लिए, महिलाओं की प्राथमिकता संबंधी लिखित घोषणा असंवैधानिक लगती है। एक मिनट के लिए, असंवैधानिक न भी सही, एकदम अटपटी तो अवश्य है। संक्षेप में, असलियत यह है कि किसी भी प्रशासनिक कुर्सी में बैठने वाले व्यक्ति की योग्यता का आधार केवल लिंग हो ही नहीं सकता। मसलन, यह धारणा कि पुलिस आयुक्त की कुर्सी के दायित्व केवल मर्द ही सफलतापूर्वक निभा सकते हैं, महिलाएं नहीं, एकदम गलत है। महिलाएं हवाई जहाज नहीं उड़ा सकती हैं, अब तो यह अंधविश्वास भी गलत साबित हो चुका है। ठीक इसी प्रकार, यह धारणा कि पारिवारिक समस्याओं का समाधान महिलाएं बेहतर कर सकती हैं, भी एकदम शरारतपूर्ण है। इस एक कुधारणा के अनेक कुप्रभाव हो सकते हैं, और दुष्परिणाम भी।

इसी प्रकार की तीव्र-तीखी प्रतिक्रिया पारिवारिक न्यायालयों में अधिवक्ताओं द्वारा पक्षकारों की ओर से वकालत करने पर पाबंदी संबंधी हैं। क्या यह सच नहीं है कि उसूलन अधिवक्तागण न्यायालयों के वरिष्ठ अधिकारी होते है? वे न्यायिक आफिसरों

2484 IIA/99—4

की सहायता करते हैं, उनके दायित्वों को निभाने में? क्या पारिवारिक न्यायालयों में पेश हुए सभी पक्षकार विधि-विशेषज्ञ होते हैं? क्या पारिवारिक झगड़ों संबंधी सभी अधिनियम इस कद्र आसान होते हैं कि उन्हें पढ़ने और समझने की क्षमता सभी में समायी होती है। क्या इन न्यायालयों के जज अधिवक्ताओं की भूमिका भी स्वयं ही अदा करेंगे? क्या इन न्यायालयों के संदर्भ में, अधिवक्ताओं के प्रति अविश्वास अथवा कुधारणा अन्य न्यायालयों के संदर्भ में भी आंच का सबब नहीं बनेगी?

इसी प्रकार की अगली, आखिरी नहीं, प्रतिक्रिया इस प्रश्न द्वारा प्रकट की जा सकती है, पारिवारिक न्यायालयों के जजों द्वारा सुनाए गए अंतरिम आदेशों के विरुद्ध अपील अथवा रिवीजन का अधिकार क्यों नहीं है? क्या यह प्रावधान संविधान की आत्मा के विपरीत नहीं है? यह संविधान की आत्मा के विरुद्ध ही नहीं, बल्कि कुदरती इंसाफ के उस मूल उसूल के प्रतिकूल भी है, जिस पर आज समस्त भारतीय न्यायप्रणाली आधारित है, अन्य सभी अधिनियम आधारित हैं, विशेष परिस्थितियों को छोड़कर, अपवादों के रूप में ?

निष्कर्ष के तौर पर, पिछले चौदह वर्ष के दौरान पारिवारिक न्यायालयों की प्रगति एवं प्रतिक्रियाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि इन न्यायालयों ने उद्देश्य प्राप्ति की दिशा में प्रगति तो की है, परन्तु यह प्रगति असंतोषजनक कहलाने योग्य अधिक है, और संतोषजनक कम। इस प्रगति को असंतोषजनक बनाने के लिए जिम्मेदार कारणों को पहले जानने, फिर उन्हें दूर करने के लिए गंभीर कदम उठाए जाने चाहिए।

□□

> "आधुनिक भाषाओं के हार की मध्य मणि हिन्दी भारत-भारती होकर विराजती रहे"
>
> – गुरुदेव रवीन्द्र नाथ ठाकुर

> "राष्ट्रीय व्यवहार में हिन्दी को काम में लाना देश की शीघ्र उन्नति के लिए आवश्यक है"
>
> – *महात्मा गांधी*

चिकित्सा, उद्योग व अन्य क्षेत्रों में लेसर का प्रयोग

□दि दे भवालकर

वर्ष 1960 में लेसर के आविष्कार से मानवता को असाधारण परिशुद्धता युक्त एक शक्ति की जानकारी प्राप्त हुई। इसके महत्व को भारत के वैज्ञानिक समुदाय ने आरंभ में ही स्वीकार कर लिया था तथा साठ के दशक के मध्य में ही इस क्षेत्र में अनेक अनुसंधान तथा विकास परियोजनाएं आरंभ कर दी गई थीं। अनुसंधान तथा विकास संबंधी इन गतिविधियों को विशेष बढ़ावा उस समय मिला जब लेसर तथा त्वरक के क्षेत्रों में अनुसंधान तथा विकास कार्य हेतु इन्दौर में एक सुव्यवस्थित वैज्ञानिक प्रयोगशाला प्रगत प्रौद्योगिकी केन्द्र (केट), इन्दौर की स्थापना की गई।

केट में महत्वपूर्ण प्रयोजनों हेतु लेसर प्रौद्योगिकियों के विकास तथा उद्योग, चिकित्सा तथा अनुसंधान एवं विकास के क्षेत्र में उनके अनुप्रयोगों को विशेष प्राथमिकता प्रदान की गई है। केट में निर्मित पहला लेसर ताम्र-वाष्प लेसर था। 40वॉ की औसत शक्ति संपन्न ताम्र-वाष्प लेसर का विकास केट में ही किया गया था। इस लेसर का प्रयोग ट्यूनेबल डाइ लेसर को पंप किए जाने के लिए भी किया जाता है, जिसकी तरंगदैर्ध्य को बदला जा सकता है।

केट द्वारा विकसित एक अन्य महत्वपूर्ण लेसर कार्बन-डाई-ऑक्साइड लेसर है। संयोग से कार्बन-डाई-ऑक्साइड लेसर का आविष्कार सुप्रसिद्ध भारतीय वैज्ञानिक डॉ. सी.के.एन. पटेल ने किया था जो उस समय सं. रा. अमेरीका की बेल प्रयोगशाला में कार्यरत थे। केट ने कार्बन-डाई-ऑक्साइड की अनेक किस्मों की प्रौद्योगिकी का विकास किया है यथा : कम-शक्ति तथा धीमें-प्रवाह वाला बहु-पुँज (मल्टीबीम) कार्बन-डाई-ऑक्साइड लेसर, अधिक-शक्ति तथा तीव्र-प्रवाह (Fast Flow) वाला कार्बन-डाई-ऑक्साईड लेसर, ट्यूनेबल कार्बन-डाई-ऑक्साइड लेसर तथा अधिक-दबाव युक्त स्पंदित कार्बन-डाई-ऑक्साइड लेसर। इसके अलावा चिकित्सा तथा उद्योग के अन्य क्षेत्रों में भी इन कार्बन-डाई-ऑक्साइड लेसरों के अनुप्रयोगों को बढ़ावा देने के लिए भी केट प्रयत्नशील है।

परंपरागत शल्यचिकित्सा की तुलना में लेसर शल्यचिकित्सा के अनेक लाभ हैं। लेसर शल्यचिकित्सा में रक्तस्राव बिल्कुल भी नहीं होता है, रोगियों को बहुत कम कष्ट होता है तथा रोग का निदान तेजी से होता है, अत: केट ने निर्णय लिया है कि केट में विकसित 60 वाट के कार्बन-डाई-ऑक्साईड लेसर पर आधारित शल्यचिकित्सा लेसरों का विकास किया जाए।

इस शल्यचिकित्सा लेसर में अनेकों जोड़ों से युक्त एक कृत्रिम-बाँह हैं जिससे शल्यचिकित्सक लेसर पुंज को यथा आवश्यकता प्रयोग कर सकते हैं। ऐसे बारह लेसर भारत में विभिन्न अस्पतालों को प्रदान किये गये हैं तथा ये सभी चिकित्सालय उत्तर में दिल्ली से लेकर दक्षिण में त्रिवेन्द्रम तक तथा पश्चिम में मुंबई से लेकर पूर्व में कलकत्ता जैसे बड़े शहरों में स्थित हैं।

अधिक शक्ति संपन्न कार्बन-डाई-ऑक्साइड लेसर का प्रयोग धातु की प्रोसेसिंग संबंधी अनेकों अनुप्रयोग जैसे कटाई, झलाई तथा सतह के उपचार के लिए किया जाता है। लेसर से कटाई करने पर परिशुद्ध तथा बारीक कटाई प्राप्त होती हैं तथा झलाई करने पर बहुत कम जगह में ही ऊष्मा का प्रभाव पड़ता है। अत: केट ने तीव्र-प्रवाह युक्त अधिक-शक्ति-संपन्न कार्बन-डाई-ऑक्साइड लेसर का विकास किया है जिसकी क्षमता 5 कि. वॉ. तक की सतत-ऊर्जा प्रदान करने की है। यह लेजर एक से.मी. मोटी इस्पात की चादर आसानी से काट कर सकता है।

हाल ही में भारत हैवी इलैक्ट्रिकल्स लि. ने केट के वैज्ञानिकों से संपर्क किया था जो बिजली घरों के लिए भाप के विशाल टरबाइन बनाता है। यह संस्था लेसर की सहायता से क्षतिग्रस्त टरबाइन फलकों (पंखों के ब्लेड) की मरम्मत की संभावना का पता लगाना चाहती थी। भेल काफी लागत पर कठोर निकल सुपरएलोय के बने टरबाइन पंखों का आयात करती है तथा क्षतिग्रस्त पंखों की मरम्मत करने पर भेल को पर्याप्त बचत हो सकती थी और वह भी विदेशी मुद्रा में। 4 कि.वॉ. क्षमता वाले अधिक शक्ति संपन्न कार्बन-डाई-ऑक्साइड लेसर का प्रयोग करते हुए केट के वैज्ञानिकों ने सफलतापूर्वक ऐसे पंखों पर और अधिक कठोर पदार्थ स्टेलाइट 694 का आवरण चढ़ा दिया। इसी प्रकार लेसर की सहायता से टरबाइन पंखों की सिरामिक परत में सुधार करने की तकनीक का विकास किया गया।

प्रगत प्रौद्योगिकी केन्द्र (परमाणु ऊर्जा विभाग), इन्दौर

नियोडिमियम यॉग लेसर एक अन्य लेसर है जिसके प्रमुख अनुप्रयोग चिकित्सा, उद्योग, अनुसंधान तथा विकास के क्षेत्र में है। इस लेसर में यॉग के स्फाटिक का प्रयोग किया जाता है जिसमें नियोडिमियम का छोटा-सा प्रतिशत होता है। केट ने ऐसे अनुप्रयोगों की आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु विभिन्न प्रकार के नियोडिमियम यॉग लेसरों का विकास किया है। उदाहरण के लिए केट ने अनेक अनुसंधान तथा विकास कार्य से संबद्ध प्रयोगशालाओं को क्यू-स्विच्ड स्पंदित नियोडिमियम यॉग लेसर विकसित कर प्रयोग हेतु उपलब्ध कराए हैं।

नियोडिमियम यॉग लेसर का प्रयोग पदार्थ के प्रोसेसिंग के लिए भी किया जाता है तथा पदार्थ के प्रोसेसिंग संबंधी अनुप्रयोगों में कार्बन-डाई-आक्साइड लेसर की तुलना में इसे वरीयता दी जाती है। केट ने 150 वाट तथा 300 वाट की औसत ऊर्जा प्रदान करने वाले नियोडिमियम यॉग लेसर का विकास किया है तथा ऐसे कुछ लेसर उद्योगों को दिए हैं। सामान्यत: उद्योगों को न केवल लेसर की आवश्यकता होती है बल्कि विनिर्दिष्ट कार्यों को करने के लिए उसके वर्क-स्टेशन की भी आवश्यकता होती है। उदाहरण के लिए हृदय के स्पंदनों को नियंत्रित करने वाले पेस-मेकर के निर्माता को लेसर के साथ-साथ ऐसे उपकरणों की भी आवश्यकता होती है जो हृदय पेस-मेकर के इलैक्ट्रानिक परिपथ को वहन करने वाले टिटेनियम आवरण की झलाई कर सके। इस प्रकार की झलाई नियोडिमियम यॉग-लेसर से ही संभव है। इस प्रकार के लेसर झलाई केन्द्र में नियोडिमियम यॉग लेसर, चार-अक्ष वाला वर्क-स्टेशन, जिसमें डिब्बी को निर्वात कक्ष में रखा जा सके, की संपूर्ण गतिविधि का नियंत्रण करने के लिए संगणक (कंप्यूटर) तथा झलाई कार्य के नियमन व नियन्त्रण हेतु वीडियो कैमरा होते हैं। केट द्वारा निर्मित पेस-मेकर बनाने के कार्य में लगा एक ऐसा झलाई केन्द्र, एक इकाई में (फैक्टरी) लगभग तीन वर्षों से बिना किसी समस्या के कार्य कर रही है। इस लेसर झलाई यूनिट की लागत पश्चिमी देशों में निर्मित इसी प्रकार के उपकरण की लागत का अंशमात्र है।

नियोडिमियम यॉग लेसर का एक अन्य महत्वपूर्ण अनुप्रयोग अंकन (marking) या उत्कीर्णन है। केट ने ऐसा लेसर-मार्कर विकसित किया है जो लेसर प्रिंटर से प्राप्त होने वाली गुणवत्ता के समान ही किसी भी पदार्थ पर लिखने में सक्षम है। उदाहरण के लिए यह लेसर मार्कर/उत्कीर्णक धब्बा रहित इस्पात या एल्युमिनियम चादर पर फोटोग्राफ, ग्राफिक्स आदि का उत्कीर्णन कर सकता है। ऐसे ही एक लेसर को सौर-सेल उत्कीर्णन हेतु सौर-सेल के निर्माता को उपलब्ध कराया गया है।

केट ने चिकित्सा अनुप्रयोग के लिए नाइट्रोजन लेसर का भी विकास किया है। कुछ वर्ष पहले रूसी साहित्य में यह समाचार प्रकाशित हुआ था कि नाइट्रोजन लेसर से क्षयरोग का उपचार किया जा सकता है। क्षयरोग के अनेक रोगियों के फेफड़ों में छेद हो जाता है जो क्षयरोग के जीवाणुओं के पनपने की भूमि बन जाती है। इसके उपचार में रोगी की पीठ से छेद तक सुई डालकर, नाइट्रोजन लेसर पुंज के माध्यम से प्रवाहित कर, प्रभावित भाग को किरणित किया जाता है। रोगी के फेफड़ों में बने छेदों में सुई की सहायता से प्रकाशिक तंतु के माध्यम से नाइट्रोजन लेसर पहुंचाया जाता है। केट ने इंदौर स्थित एक अस्पताल को 3 मिली-वाट की औसत शक्ति वाला प्रकाशिक-तंतु-युक्त नाइट्रोजन लेसर प्रदान किया है। इस अस्पताल ने इस लेसर को 200 से भी अधिक क्षयरोग के ऐसे रोगियों के उपचार में प्रयोग किया है जिनके फेफड़ों में छेद हो गए थे तथा कई वर्षों से वे दवाईयों पर आश्रित थे लेकिन दवाईयां भी बेअसर हो गई थीं। नाइट्रोजन लेसर उपचार से अधिकांश रोगी दो-तीन माह में ही पूर्णतया निरोगी हो गए तथा उनमें रोग से लड़ने की इच्छा शक्ति भी बनी रही।

इस अस्पताल ने इस लेसर का प्रयोग ऐसे अन्य क्षेत्रों में भी किया जहां दवाइयां बेअसर हो चुकी थीं। उदाहरण के लिए जलने से उत्पन्न जिन घावों पर दवाइयों का असर नहीं हो रहा था, उन घावों पर पांच दिन तक (प्रतिदिन) 10 मिनट के लिए नाइट्रोजन लेसर डालने से वे पूरी तरह से ठीक हो गए।

केट का चिकित्सा निदान के अन्य क्षेत्रों में भी लेसर प्रयोग संबंधी कार्यक्रम है। ऊतकों की लेसर प्रेरित प्रतिदीप्ति के अध्ययन में यह पाया गया कि सामान्य घातक तथा हितैषी ऊतकों की प्रतिदीप्ति के स्पेक्ट्रा में पर्याप्त अंतर है। अनेक प्रकार के ट्यूमर में, सामान्य तथा सांघातिक ऊतकों में, अधिक परिशुद्धता के साथ, अंतर करना संभव है। ये सभी प्रयोग केंसर के रोगियों के उच्छेदित ऊतक नमूनों पर किए गए। केट ने केंसर के एक अस्पताल में ऐसी एक इकाई लगाई है जिससे इसका अध्ययन किया जा सके।

केट ने लेसर आधारित पदार्थ-विश्लेषक उपकरणों का भी विकास किया है। ऐसा ही एक उपकरण लेसर फ्लोरीमीटर है जो पानी के नमूनों में यूरेनियम की कम सांद्रता का पता लगाता है। यह उपकरण यूरेनियम स्रोत में प्रतिदीप्ति बढ़ाने के लिए नाइट्रोजन लेसर का प्रयोग करता है। इस प्रतिदीप्ति की गहनता पानी में यूरेनियम के सांद्रण का सीधा संकेत है। यह उपकरण यूरेनियम

की सांद्रता को 0.2 पी पी बी (पार्ट्स पर बिलियन) के न्यूनतम स्तर तक माप सकता है। ऐसे अनेक उपकरण, परमाणु ऊर्जा विभाग की विभिन्न इकाइयों में यूरेनियम के रखरखाव से जुड़े कार्य में नियमित प्रयोग में लाए जा रहे हैं जिससे प्रवाही जल में यूरेनियम की सांद्रता की जांच की जा सके। परमाणु खनिज प्रभाग के वैज्ञानिक गहरे कुओं से पानी के नमूने एकत्रित करते हैं तथा उसमें यूरेनियम की मात्रा का पता लगाते हैं। पानी में यूरेनियम की उपस्थिति का अर्थ है कि आस-पास यूरेनियम अयस्क मौजूद हैं। हाल ही में परमाणु ऊर्जा विभाग ने ऐसे दो उपकरण अंतर्राष्ट्रीय परमाणु ऊर्जा एजेंसी (आई.ए.ई.ए.), वियना के सीबर्सडोर्फ प्रयोगशाला को प्रदान किए हैं।

लेसर तथा लेसर आधारित उपकरणों के विकास के साथ-साथ केट के प्रमुख अनुसंधान कार्यक्रम के क्षेत्र हैं—लेसर उत्पादित प्लाज्मा, पीको सैकेंड तथा फेम्टो सैकेंड लेसर द्वारा अध्ययन तथा अरैखिक प्रकाशिकी व फ्यूजन प्रयोगों के लिए ऊर्जा संपन्न नियोडिमियम यॉग लेसर शृंखला का निर्माण। लेसर उत्पादित प्लाज्मा के अध्ययन हेतु अनेक नैदानिक उपकरणों का विकास किया गया है। उदाहरण के लिए लेसर उत्पादित प्लाज्मा से क्ष-किरण उत्सर्जन के समय की विभिन्नता के अध्ययन हेतु केट में 20 पीकोसैकेंड के समय-विभेदन-युक्त स्ट्रीक कैमरा विकसित किया गया है। अन्य नैदानिक उपकरणों में लेसर उत्पादित प्लाज्मा से क्ष-किरण उत्सर्जन तथा उनके अनुप्रयोगों पर अनुसंधान शामिल है । उदाहरण के लिए लेसर उत्पादित प्लाज्मा की क्ष-किरण का प्रयोग करते हुए केट के वैज्ञानिकों ने एकल सेल के क्ष-किरण सूक्ष्म रेडियोग्राफ लिए हैं, जो 0.2 माइक्रोन जितने छोटे आकार वाले लक्षण भी दर्शाते हैं ।

भारत में औद्योगिक अवसंरचना भलीभाँति विकसित नहीं है। विकसित उत्पाद को उत्पादन के लिए तैयार प्रौद्योगिकी में बदलने के लिए काफी प्रयास करना पड़ता है। अक्सर ही ऐसे अतिरिक्त प्रयास प्रयोगशालाओं द्वारा नहीं किए जाते तथा इसीलिए प्रयोगशाला में विकसित उत्पाद कभी भी प्रकाश में नहीं आते। ऐसी स्थिति से बचने की दृष्टि से केट ने आदि प्ररूप उत्पादन इकाई की स्थापना की है जो लेसर या लेसर आधारित उपकरणों के प्रयोगशाला मॉडलों को पूर्णतया अभियांत्रित उत्पादन उपयोगी मॉडल में बदलने की दिशा में कार्यरत हैं। इस आदिप्ररूप उत्पादन इकाई ने अपनी स्थापना के बाद से पिछले पाँच वर्षों में अनेक लेसर तथा लेसर आधारित उपकरणों की आपूर्ति अनुसंधान तथा विकास संबंधी प्रयोगशालाओं, शैक्षिक संस्थानों, उद्योगों तथा अस्पतालों को की है तथा इस प्रकार भारत में विकसित लेसरों की तकनीकी गुणवत्ता प्रमाणित की है।

□□

"चूंकि भारतीय एक होकर एक समन्वित संस्कृति का विकास करना चाहते हैं, इसलिए सभी भारतीयों का यह परम कर्त्तव्य हो जाता है कि वे हिन्दी को अपनी भाषा समझकर अपनाएँ"

-डा0 बाबासाहब अम्बेदकर

2484 HA/99- 5

भारतीय दूरसंचार क्रांति के दो दशक

□आर. डी. माशीवाल

बीसवीं सदी के अंतिम दो दशक यानी 80 और 90 के दशक भारतीय दूरसंचार के क्षेत्र में हुई तकनीकी एवं प्रौद्योगिकीय प्रगति की दृष्टि से देखा जाए तो काफी महत्वपूर्ण रहे हैं । इस बीस वर्ष की अवधि के दौरान भारतीय दूरसंचार क्षेत्र में कई महत्वपूर्ण क्रांतिकारी परिवर्तन हुए हैं। इस दृष्टि से यदि इस अवधि को भारतीय दूरसंचार विकास का स्वर्णकाल कहा जाए तो इसमें कोई अतिशयोक्ति न होगी। इस अवधि में दूरसंचार के क्षेत्र में कई ढांचागत परिवर्तन किये गये तथा इंटरनेट, सेल्यूलर मोबाइल, वीडियो कांफ्रेंसिंग जैसी मूल्यवर्द्धित सेवाओं की शुरुआत की गई जिसके परिणामस्वरूप दूरसंचार सेवाओं की केवल गुणवत्ता में ही सुधार नहीं हुआ अपितु कई नई सेवाओं की भी शुरुआत हुई। दूरसंचार के क्षेत्र में आई इस अभूतपूर्व क्रांति के परिणामस्वरूप शहरी विलासिता का प्रतीक माना जाने वाला टेलीफोन आज ग्रामीण जन साधारण की आवश्यकता का अभिन्न अंग बन गया है।

भारतीय दूरसंचार क्रांति के स्वरूप को आत्मसात करने के लिए इसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर एक नजर डालना आवश्यक है। टेलीग्राफ सेवा के रूप में ईस्ट इंडिया कंपनी ने सन 1855 में भारत में दूरसंचार सेवाओं की शुरुआत की थी। आरम्भ में इस सेवा का उपयोग उद्योग एवं व्यापार को सुचारू रूप से चलाने के लिए किया गया। लेकिन ईस्ट इंडिया कंपनी ने जब भारतीय भू-भाग की राजनीति में दखल देना आरम्भ किया तो इतने बड़े प्रदेश को नियंत्रित करने के लिए आधारभूत अवसंरचना के रूप में दूरसंचार की आवश्यकता महसूस की गई। 1857 की क्रांति को कुचलने में टेलीग्राफ अंग्रेजों के लिए बहुत सहायक सिद्ध हुआ। इसीलिए कालान्तर में डलहौजी ने बेबाक टिप्पणी की **''इलेक्ट्रिक टेलीग्राफ ने भारत को बचाया''**।

तत्पश्चात 1857 से भारत में ब्रिटिश शासन के पैर जमते ही दूर-संचार के क्षेत्र में विकास कार्य की ओर ध्यान दिया गया और बड़े शहरों को टेलीग्राफ लिंक के जरिये जोड़ दिया गया। 1865 तक अंतरमहाद्वीपीय टेलीग्राफ लिंक के जरिये भारत का इंगलैंड से सीधा सम्पर्क हो गया। 1876 में अमेरिका में टेलीफोन का अविष्कार हुआ और 1881 में ओरिएंटल टेलीफोन कंपनी की स्थापना के साथ भारत में टेलीफोन सेवा की शुरुआत हुई। 1932 तक भारत में रेडियो टेलीफोनी सुविधाओं की भी शुरुआत हो गई थी। लेकिन इन सब के बावजूद ब्रिटिश शासन काल में, दूरसंचार माध्यम, उपनिवेशवाद के हथियार थे। अत: देश के अंदर सीमित दायरे में दूरसंचार का उतना ही विकास किया गया जितना तत्कालीन सरकार की दृष्टि से व्यापार, उद्योग एवं प्रशासन के लिए आवश्यक था।

आजादी मिलने के साथ ही प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में राष्ट्र-निर्माण के कार्य को नई दिशा प्रदान की गई। सामाजिक-आर्थिक विकास में दूरसंचार की महत्वपूर्ण भूमिका को देखते हुए पंचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से दूरसंचार अवसंरचना का विकास कार्य आरम्भ किया गया । देश के प्रमुख नगरों में टेलीफोन एक्सचेंज स्थापित किये गये तथा दूरसंचार सुविधाओं का प्रचार प्रसार किया गया। इस अवधि के दौरान भारत ने दूरसंचार के क्षेत्र में कई महत्वपूर्ण उपलब्धियां हासिल कीं। 1960 में सर्वप्रथम लखनऊ तथा कानपुर के बीच एस टी डी सेवा आरम्भ की गई और 1976 में पहली बार भारत तथा लंदन के बीच आई एस डी सेवा की शुरुआत हुई।

1957 में सोवियत रूस द्वारा स्पूतनिक-1 के अंतरिक्ष में छोड़े जाने के साथ ही विश्व उपग्रह संचार (Satelite Communication) के युग में प्रवेश कर गया। दूरसंचार के क्षेत्र में उपग्रह संचार प्रणाली एक क्रांतिकारी उपलब्धि थी जिसने दूरसंचार को काफी व्यापक एवं प्रभावकारी बना दिया। भारत में भी उपग्रह संचार के क्षेत्र में कार्य आरम्भ किया गया और महान वैज्ञानिक विक्रम साराभाई के नेतृत्व में 26 जनवरी 1971 में पुणे के निकट अर्वी में पहला उपग्रह भू-केन्द्र स्थापित किया गया। भारत ने **इंटलसैट** तथा **इनमारसैट** जैसे अंतरराष्ट्रीय दूरसंचार संगठनों की सदस्यता प्राप्त की तथा इसके परिणामस्वरूप भारत में अंतरराष्ट्रीय दूरसंचार लिंक स्थापित किये गये। 1976 में एक नोडल एजेंसी के रूप में अंतरिक्ष विभाग की स्थापना की गई जिसका मुख्य उद्देश्य संचार एवं प्रसारण के क्षेत्र में अंतरिक्ष

दूरसंचार विभाग, डाक-तार भवन, नई दिल्ली।

संभावनाओं को मूर्त रूप देना था। इसी प्रयास के परिणामस्वरूप 80 के दशक में भारत ने भू-स्थिर कक्षा में अपना इनसैट उपग्रह स्थापित किया। इसी के साथ संचार एवं प्रसारण के लिए उपग्रहों का व्यापक तौर पर प्रयोग आरम्भ किया गया। इंटलसैट सैटेलाइट का एक ट्रांस्पौंडर लीज पर लेकर 1973 में दूरस्थ क्षेत्र संचार (Remote Area Communication) की शुरुआत की गई तथा आइजौल, इम्फाल, कोहिमा, लक्षद्वीप, लेह, पोर्ट ब्लेयर में छोटे भू-केन्द्र स्थापित किये गये जिसका "हब" दिल्ली में था। इस तरह दूरस्थ स्थानों को संचार माध्यमों के जरिये जोड़ा गया।

यद्यपि, 80 के दशक के पूर्व दूरसंचार के क्षेत्र में ऐसी कई उपलब्धियां हासिल की गईं जो आगे चल कर 80 के दशक की दूरसंचार क्रांति का आधार बनीं, किन्तु इस अवधि के दौरान दूरसंचार विकास की दर काफी धीमी रही। इसका प्रमुख कारण नौकरशाहों का दूरसंचार के प्रति उदासीन रवैया तथा दूरसंचार के क्षेत्र में राज्य का एकाधिकार था। विश्व के अन्य देश जहां एनालॉग सेल्यूलर तथा पेजिंग सेवाओं के पथ पर अग्रसर थे और डिजिटल प्रौद्योगिकी अपनाने का प्रयास किया जा रहा था वहीं भारत का दूरसंचार नेटवर्क पुराने किस्म के स्ट्रोजर और क्रासबार स्विचों पर टिका था।

80 के दशक की दूरसंचार क्रांति कोई अचानक घटना नहीं है बल्कि इसकी पृष्ठभूमि काफी पहले से तैयार हो रही थी। दूरसंचार के क्षेत्र में हुई इस क्रांति का एक मुख्य श्रेय तत्कालीन प्रधानमंत्री स्वर्गीय श्री राजीव गांधी को जाता है। वास्तव में वे इस क्रांति के अग्रदूत हैं। राजीव गांधी का दिवास्वप्न भारत को 21वीं सदी में ले जाने का था जिसके लिए यह आवश्यक था कि देश में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में विकास हो। वे देश के विकास के लिए आधुनिक दूरसंचार के महत्व को समझते थे। इसीलिए भारतीय दूरसंचार को एक आधुनिक स्वरूप देने के लिए साम पेत्रोदा को अमेरिका से भारत आमंत्रित किया गया। भारतीय दूरसंचार के आधुनिकीकरण में पेत्रोदा का योगदान अविस्मरणीय है।

आजदी के बाद दूरसंचार के क्षेत्र में असंतोषजनक प्रगति के कारणों तथा इस उद्योग के समक्ष आ रही समस्याओं का पता लगाने तथा उनका निदान खोजने के उद्देश्य से 1981 में सरीन समिति का गठन किया गया। समिति ने डिजिटल स्विचों को अपनाने तथा दूरसंचार विभाग को डाक विभाग से पृथक करने संबंधी दो सिफारिशें दीं। पहली का संबंध तकनीकी सुधार से था जबकि दूसरी संस्थागत सुधार से संबंधित थी। समिति के पहले सुझाव पर तुरंत कार्रवाई की गई।

भारतीय दूरसंचार के इतिहास का संभवत: वह सबसे महत्वपूर्ण और साहसिक कदम था जब भारतीय डिजिटल स्विचों का स्वदेशी तौर पर डिजाइन तैयार करने के लिए टेलेमेटिक्स विकास केन्द्र (Centre for Development of Telematics) यानी सी-डॉट की स्थापना की गई। यह साम पेत्रोदा के दिमाग की उपज थी। भारत के स्ट्रोजर तथा क्रासबार एक्सचेंजों को डिजिटल एक्सचेंजों में बदलने में श्री पेत्रोदा का बहुत योगदान रहा। श्री प्रेत्रोदा तथा युवा वैज्ञानिकों के अथक परिश्रम के परिणामस्वरूप सी-डॉट डिजिटल स्विचों का विकास किया गया।

दूरसंचार के क्षेत्र में हुई प्रगति की दृष्टि से 80 के दशक को टेलीकॉम पुनर्जागरण (Telecom Renaissance) का दशक भी कहा जा सकता है। इस दशक में सी-डॉट के इंजीनियरों के प्रयास से बहुत अल्प समय में स्वदेशी तौर पर अनुसंधान एवं विकास (Research & Development) का एक अच्छा आधार विकसित कर लिया गया था। अनुसंधान एवं विकास का परिणाम शीघ्र सामने आने लगा जब सी-डॉट ने 1985 में रूरल आटोमेटिक एक्सचेंज (RAX) नामक ग्रामीण एक्सचेंच विकसित किया। इसके शीघ्र बाद मेट्रोपोलिटन ऑटोमेटिक एक्सचेंज (MAX) नामक अपेक्षाकृत बड़े स्विचों का विकास किया गया। कम मूल्य वाले सी-डॉट एक्सचेंज ग्रामीण परिस्थितियों के बिल्कुल अनुकूल थे जहां कम क्षमता वाले ऐक्सचेंजों की आवश्यकता थी। इससे ग्रामीण क्षेत्रों में दूरसंचार सुविधा प्रदान करने में काफी मदद मिली। मैक्स एक्सचेंजों का उपयोग शहरी दूरसंचार सेवाओं के क्षेत्र में किया गया। इन एक्सचेंजों के प्रयोग से दूरसंचार सेवाओं की गुणवत्ता में उल्लेखनीय सुधार हुआ।

80 के दशक में, डॉटा कम्यूनिकेशन के लिए पैकेट स्विच्ड नेटवर्क तथा वी सैट आधारित रिमोट एरिया बिजनेस मैनेजमेंट नेटवर्क (RABMN) का विकास कार्य आरंभ किया गया। यह डॉटा कम्यूनिकेशन नेटवर्क के विकास का आरंभिक दौर था जो आगे चलकर 90 के दशक में इंटरनेट सेवाओं के लिए "**बैकबोन**" मील का पत्थर बना। इसी अवधि में सार्वजनिक कॉल आफिस (PCO) भी प्रचलन में आया जिसने दूरसंचार सेवाओं को आम जनता तक पहुंचाने में अहम भूमिका निभाई।

80 के दशक की दूसरी महत्वपूर्ण उपलब्धि थी उपग्रह संचार। 1982 में, संयुक्त राज्य अमेरिका के डेल्टा रॉकेट की सहायता से भारत के इनसैट-1 ए को भू-स्थिर कक्षा में स्थापित किये जाने के साथ ही भारत में उपग्रह आधारित दूरसंचार प्रणाली का सूत्रपात हुआ। उपग्रह के कारण टेलीविजन प्रसारण में ही

नहीं बल्कि दूरसंचार क्षेत्र में भी क्रांतिकारी परिवर्तन हुए । प्रसारण एवं संचार के क्षेत्र में उपग्रह की महत्ता को ध्यान में रखते हुए भारत द्वारा कई इनसैट श्रेणी के उपग्रह भू-स्थिर कक्षा में स्थापित किये गये जो एस टी डी तथा आई एस डी संचार सेवाओं में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं।

दूरसंचार सेवाओं के प्रभावी प्रचालन की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए 1986 में अंतर्राष्ट्रीय प्रचालक के रूप में विदेश-संचार निगम लिमिटेड (VSNL) तथा महानगरों के प्रचालक के रूप में महानगर टेलीफोन निगम लिमिटेड (MTNL) की स्थापना की गई । इन दोनों कंपनियों को सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रम के रूप में स्वतंत्र प्रचालक के तौर पर स्थापित किया गया है। भारतीय दूरसंचार क्रांति में इन दोनों कंपनियों की भूमिका सराहनीय रही है। भारत सरकार की ओर से दोनों कंपनियों को "नवरत्न" का दर्जा प्राप्त है।

यद्यपि आई टी आई तथा अल्काटेल के बीच हुए समझौते के परिणामस्वरूप प्रौद्योगिकी हस्तांतरण के तहत ई-10बी स्विचों का भारत में उत्पादन शुरू हो गया था परन्तु उस समय सी-डॉट से विरोध के कारण कुछ समय तक के लिए उसके उपयोग को स्थगित रखा गया । इसी तरह एनालॉग सेल्यूलर सेवाओं की शुरूआत को लेकर विवाद हुआ। इसे भारत जैसे देश के लिए विलासिता की वस्तु मानी गई । पर आगे चलकर 90 के दशक में ई-10बी तथा सेल्यूलर मोबाइल फोनों के महत्व को स्वीकार किया गया।

90 के दशक के आरंभ के साथ ही दूरसंचार क्रांति का दूसरा दौर आरंभ हुआ । इस दौर में दूरसंचार के क्षेत्र में कई ऐसे परिवर्तन हुए जो कुछ वर्ष पूर्व तक भारत के लिए एक सपना जैसा था। 80 के दशक तक रेडियो पेजिंग, सेल्यूलर मोबाइल, इंटरनेट, वीडियो कॉफ्रेंसिंग ई-मेल जैसी दूरसंचार की कई महत्वपूर्ण आधुनिक उपलब्धियों को विलासिता की वस्तु कह कर नकारा जाता रहा था। 90 के दशक में इनके महत्व को पहचाना गया और एक-एक कर ये सभी सेवाएं भारतीय दूरसंचार का अंग बनती चली गई।

1989-90 के दौरान जब देश को आर्थिक संकट का सामना करना पड़ा तो गलत नीतियों, नौकरशाही की अक्षमता तथा सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों की कमियां उभर कर सामने आई। तब पहली बार देश की अर्थव्यवस्था में सुधार लाने की आवश्यकता महसूस की गई। यह वह समय था जब आर्थिक क्षेत्र में उदारीकरण की प्रक्रिया भी आरंभ हो गई थी। आर्थिक उदारीकरण का लाभ दूरसंचार सेक्टर को भी मिला। सरकार को यह महसूस हुआ कि दूरसंचार उद्योग जो एक (Capital Intensive Industry) है उसका आधुनिकीकरण एवं विकास वह अकेले नहीं कर सकती है। इसी को ध्यान में रखते हुए दूरसंचार क्षेत्र को पहली बार निजी क्षेत्र के लिए खोलने का विचार किया गया ।

राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर दूरसंचार के क्षेत्र में हो रहे परिवर्तनों एवं उभरती चुनौतियों को ध्यान में रखते हुए 1989 में दूरसंचार आयोग का गठन किया गया। इसी के साथ दूरसंचार के क्षेत्र में उदारीकरण की प्रक्रिया आरंभ की गई और इस दिशा में प्रथम कदम के रूप में Intellectual Property Right, 1956 को दूरसंचार के संदर्भ में समाप्त कर दिया गया । दूर-संचार उपस्कर विनिर्माण को निजी कंपनियों के लिए खोल दिया गया।

दूरसंचार के उदारीकरण में दूरसंचार आयोग के तत्कालीन अध्यक्ष ए. विठ्ठल का योगदान काफी सराहनीय रहा । उन्होने दूरसंचार के क्षेत्र में राज्य के एकाधिकार को एक-एक कर समाप्त कर दिया। भारतीय दूरसंचार को एक नई दिशा प्रदान करते हुए नई दूरसंचार नीति, 1994 तैयार की गई । नई दूरसंचार नीति की घोषणा, भारतीय दूरसंचार के इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना थी। इस नीति ने दूरसंचार के क्षेत्र में मूल्य वर्द्धित सेवाओं (Value Added Services) जैसे सेल्यूलर मोबाइल, इंटरनेट, ई-मेल, विडियो कॉफ्रेंसिंग की शुरूआत तथा बुनियादी सेवाओं, के क्षेत्र में निजी भागीदारी के लिए मार्ग प्रशस्त किया । दूरसंचार को निजी क्षेत्र के लिए खोलने के साथ ही कई राष्ट्रीय तथा बहुराष्ट्रीय कंपनियों ने इन क्षेत्रों में निवेश करना आरंभ किया ।

जब दूरसंचार क्षेत्र में निजी क्षेत्र की भागीदारी का दौर आरंभ हुआ तो एक तीसरे पक्ष की मध्यस्थता की आवश्यकता महसूस की गई। इसी को ध्यान में रखते हुए 1997 में भारतीय दूरसंचार विनियामक प्राधिकरण (TRAI) नामक नियामक निकाय की स्थापना की गई। इससे एक ओर जहां विवाद के निपटान में पारदर्शिता एवं निष्पक्षता आई वहीं दूरसंचार क्षेत्र में निवेश के प्रति विदेशी कंपनियों में विश्वास जगा।

दूरसंचार के क्षेत्र में सरकारी नीतियों में आए परिवर्तन के परिणामस्वरूप दूरसंचार के क्षेत्र में कई नई सेवाएं आरंभ की गई। आरंभ में केवल मेट्रो शहरों में सेल्यूलर मोबाइल सेवाएं आरंभ की गई थीं जो धीरे-धीरे अन्य नगरों तथा छोटे शहरों तक

पहुंचने लगी । इसी तरह 1994 में आरंभ की गई रेडियो पेजिंग सेवाओं का दायरा भी बढ़ रहा है। 1995 में वी एस एन एल द्वारा देश में इंटरनेट सेवाओं की शुरूआत की गई थी। फिलहाल इंटरनेट सेवाओं पर वी एस एन एल का एकाधिकार है जिसके शीघ्र ही समाप्त किये जाने की संभावना है। नई दूरसंचार नीति, 1999 में, निजी इंटरनेट सेवा प्रदाता (ISP) के लिए प्रावधान किया गया है । इसके अतिरिक्त इरिडियम द्वारा भारत में ग्लोबल रोमिंग सेवा की भी शुरूआत हो गई है जिसके माध्यम से विश्व के किसी भी कोने से कहीं भी बात की जा सकती है। इरिडियम, लो अर्थ ऑर्बिट (Low Earth Orbit) आधारित Global Mobile Communication System by Satellite (GMPCS) है जिसमें एक छोटे हैंड सेट के जरिये कहीं भी बात की जा सकती है। यह सेवा पिछले वर्ष नवम्बर में आरंभ की गई थी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस सदी के अंतिम दो दशक भारतीय दूरसंचार के क्षेत्र में काफी महत्वपूर्ण रहे हैं । जब कई नई दूरसंचार सेवाएं आरंभ की गईं तथा मौजूदा सेवाओं के क्षेत्रों में विस्तार किया गया। इस अवधि के दौरान ग्रामीण दूरसंचार सेवाओं पर भी पर्याप्त ध्यान दिया गया और दूरस्थ तथा तकनीकी रूप से अव्यवहार्य क्षेत्रों को उपग्रह के माध्यम से संचार सुविधाओं से जोड़ा गया। ग्रामीण संचार व्यवस्था को सुदृढ़ करने के लिए अद्यतन प्रौद्योगिकी वायरलैस-इन-लोकल लूप (Wireless in Local Loop) जिसे विल भी कहा जाता है का प्रयोग किया जा रहा है।

□□

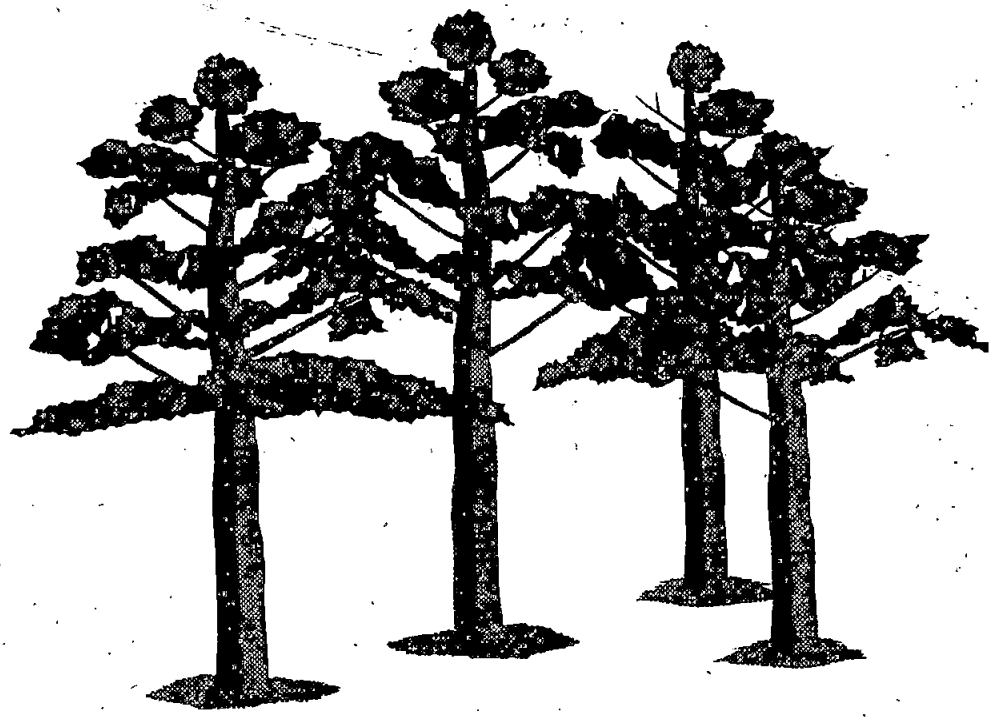

2484 IIA/99—6

न्यूरल नेटवर्क

□मनोरंजन प्रसाद सिंह

प्रगत प्रौद्योगिकी केंद्र, इन्दौर

मस्तिष्क विज्ञान की प्रगति के साथ-साथ इसकी संरचना तथा इसमें घटित होने वाले प्रक्रमों (Processes) की जानकारी बढ़ती गयी। यह भी स्पष्ट हो गया कि मस्तिष्क के अवयव 'रहस्यमयी' क्षमताओं से युक्त नहीं हैं। इसके विपरीत मस्तिष्क का आधारभूत अवयव न्यूरान कम्प्यूटर के किसी इलेक्ट्रॉनिक्स चिप की तुलना में अत्यंत सरल है। यह एक साधारण विद्युत रासायनिक निकाय है, जो जोड़ने और थ्रेशहोल्डिंग (thresholding) जैसे प्रारम्भिक अभिकलन करने में समर्थ है। फिर मस्तिष्क की "रहस्यमयी" क्षमताओं का स्रोत क्या है? मस्तिष्क संरचना के परिप्रेक्ष्य में वैज्ञानिकों ने यह सोचना प्रारम्भ किया कि अगर ढेर सारे सरल अभिकलित्रों (Simple Computing elements) को एक दूसरे से काफी सघनता के साथ जोड़ दिया जाये तो परिणामी सामूहिक अभिकलन (Resultant Collective Computation) किस प्रकार के होंगे? (ज्ञातव्य है कि मस्तिष्क में 10^{11} से 10^{14} न्यूरान होते हैं तथा प्रत्येक न्यूरान तकरीबन 10^{4} न्यूरान से जुड़ा होता है)। न्यूरल नेटवर्क कुछ इसी तरह के सोच की परिणति है, जो आज अंतराष्ट्रीय वैज्ञानिक जगत में शोध का एक प्रमुख विषय है। इसे कई नामों यथा कनेक्शनिस्ट मॉडल, पैरलल डिस्ट्रीब्यूटेड प्रॉसेसिंग, सेल्फ ऑरगेनाइजिंग नेटवर्क इत्यादि से भी जाना जाता है। इस लेख में मैंने इसके कुछ मूलभूत सिद्धांतों तथा विशेषताओं पर प्रकाश डाला है।

न्यूरल नेटवर्क प्राणी-मस्तिष्क की कार्यक्षमताओं से प्रेरित एक नये किस्म के कम्प्यूटर की अवधारणा है। मूलत: यह एक दूसरे से सघनता से जुड़े सरल अभिकलित्र अवयवों (Computing elements) का जाल है। भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में आकृतियों की पहचान, वर्गीकरण, अनुकूलन, अनुभवों से सीखना, इंटेलिजेंस, भाषा-ज्ञान इत्यादि कुछ ऐसे कार्य हैं, जिन्हें मस्तिष्क अत्यंत सहजता से कर लेता है। तमाम तकनीकी प्रगति के बावजूद ये कार्य प्रचलित कम्प्यूटर (जिसे इसके जनक वॉन न्यूमन के सम्मान में वॉन न्यूमन कम्प्यूटर भी कहा जाता है) से इतनी सहजता से सम्भव नहीं हो सके हैं। टूरिंग द्वारा प्रतिपादित इंटेलिजेंस की अवधारणा आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस से जुड़े शोधार्थियों के लिए दु:स्वप्न साबित हुई है।

विरोधाभास क्यों?

वॉन न्यूमन कम्प्यूटर जटिल गणितीय गणनाएं अत्यंत शीघ्रता से कर लेता है। तभी तो हमें चाहे दो बड़ी संख्याओं का गुणनफल ज्ञात करना हो या जटित समीकरणों का हल निकालना हो, या फिर आंकड़ों का विश्लेषण करना हो, धड़ल्ले से इनका इस्तेमाल करते हैं। इस तरह के कार्यों में यह निश्चित रूप से मस्तिष्क से बेहतर है। फिर ऐसा क्यों है कि कुछ और किस्म की गणनाओं में यह मस्तिष्क की बराबरी नहीं कर सकता। इस आभासी विरोधाभास के पीछे इन दोनों तरह की गणनाओं की प्रवृत्ति में मूलभूत अंतर का होना है। पहले किस्म की गणना एलगोर्थिमक (Algorithmic) तथा दूसरे किस्म की गणना नॉन एलगोर्थिमक है। पहली स्थिति में गणना की एक स्पष्ट और निश्चित प्रक्रिया मालूम होती है। यह इनपुट पर निर्भर नहीं करती है। इसके लिये हम कम्प्यूटर को एक चरणबद्ध निर्देशों की फेहरिस्त दे देते हैं, जिसे एलगोर्थिम कहा जाता है, कम्प्यूटर एक-एक करके इन्हें पूरा करता है। जिसके फलस्वरूप हमें परिणाम या आउटपुट प्राप्त होता है। इलेक्ट्रॉनिक तकनीकी की अभूतपूर्व प्रगति से कम्प्यूटर के संसाधक अवयव (Processing element) काफी तेजी से कार्य करने में सक्षम हैं। इसलिये ऐसी गणनाओं में वॉन न्यूमन कम्प्यूटर तेजी से काम करता है। दूसरी तरह की गणना में इनपुट-आंकड़ों पर आधारित बहुत सारी संभावनाओं में से सही स्थिति या हल का चुनाव करना होता है। मस्तिष्क सारी संभावनाओं पर एक साथ विचार करता है और सही हल तक पहुंच जाता है। अगर सभी सम्भावनाओं को मद्देनजर रखते हुए एलगोर्थिम लिख भी दिया जाये तो इसे कार्य रूप देने में काफी समय लग सकता है। कुछ परिस्थितियों में (जिसे तकनीकी भाषा में NP-Complete Problem कहते हैं) यह समय इतना ज्यादा हो सकता है कि इसे सुपर कम्प्यूटर से भी नहीं किया जा सकता। ऑप्टीमाइजेसन तथा ट्रैवेलिंग सेल्स-मैन के निर्मेय (Problem) इसी श्रेणी में आते हैं। प्रचलित कम्प्यूटर को अनुक्रमिक (sequential) होना इस समस्या को और भी बढ़ा देता है।

ऊर्जा की खपत :

प्रचलित कम्प्यूटर में एक क्रिया करने में लगभग 10^{-9} जूल ऊर्जा की खपत होती है। मस्तिष्क में इसके लिये मात्र 10^{-16} जूल की आवश्यकता होती है। इस दृष्टि से भी न्यूरल नेटवर्क ज्यादा सक्षम है। प्रचलित कम्प्यूटर में इतनी ऊर्जा आखिर कहां जाती है? यह डिजिटल प्रणाली पर कार्य करता है 10^{-13} जूल से 10^{-15} जूल ऊर्जा ट्रांजिस्टर के गेट को 0 से 1 तक आवेशित करने में खर्च हो जाती है। इससे सौ गुना ऊर्जा डिजिटल हार्डवेयर के तारों को आवेशित करने में खर्च हो जाती है और एक क्रिया सम्पन्न करने में दस हजार ट्रांजिस्टरों का इस्तेमाल होता है।

मूल सिद्धांत

मोटे तौर पर यह माना जा सकता है कि अभिकलन (Computation) के तीन स्तर होते हैं—

(1) प्रारम्भिक फलन (Elementary Function)

(2) सूचना-निरुपण (Representation of Information)

(3) समायोजन-सिद्धांत (Organizing-Principles)

न्यूरल नेटवर्क में ये तीनों एक साथ होते हैं। यही चीज न्यूरल नेटवर्क को लचीलापन (Flexibility) प्रदान करती है। प्रारम्भिक फलन जैसे जोड़, घटाव, समाकलन (Integration) इत्यादि – भौतिक विज्ञान के नियमों से आसानी से प्राप्त किये जा सकते हैं। न्यूरल नेटवर्क में प्रारम्भिक फलन के लिये इसी तरह की युक्तियों (devices) का इस्तेमाल होता है। प्रचलित कम्प्यूटर में प्रारम्भिक फलन तर्कसंगत फलन (Logical function) होते हैं जिसे युक्तियों की भौतिक क्षमताओं के विपरीत कृत्रिम ढंग से प्राप्त किया जाता है। इससे प्रचलित कम्प्यूटरों में ऊर्जा की खपत बढ़ जाती है। सूचना-निरुपण एक ऐसा पक्ष है, जो न्यूरल नेटवर्क को वॉन न्यूमन कम्प्यूटर से एकदम अलग खड़ा कर देता है। वॉन-न्यूमन कम्प्यूटर में सूचनाएं स्मृति-तंत्र (Memory unit) में सुनिश्चित स्थानों पर संचित (Store) की जाती हैं। एक स्थान पर एक ही सूचना संचित होती है। अगर स्मृति-तंत्र का कोई हिस्सा क्षतिग्रस्त हो जाये तो उस हिस्से में संचित सूचना नष्ट हो जाती है। इसके विपरीत न्यूरल नेटवर्क में सारी सूचनाएं पूरे नेटवर्क में वितरित रहती हैं। नेटवर्क के किसी हिस्से के क्षतिग्रस्त होने पर सूचनाएं नष्ट नहीं होती क्योंकि नेटवर्क का प्रत्येक हिस्सा प्रत्येक संचित सूचना की जानकारी रखता है। न्यूरल नेटवर्क के इस गुण के कारण हमें उसे **पेरलल डिस्ट्रीब्यूटेड प्रोसेसिंग सिस्टम** भी कहते हैं।

प्रचलित कम्प्यूटर में समायोजन (Organization) प्रोग्रामन के द्वारा होता है। प्रोग्रामन एलगोर्थिम विशेष पर आधारित निर्देशों का समुच्चय है जिसे कंप्यूटर के केन्द्रीय संसाधन एकक (Central Processing Unit) में कार्यान्वित किया जाता है। यह एक निर्धारणात्मक प्रक्रम (deterministic process) है। इसलिए प्रचलित कम्प्यूटर फजी (Fuzzy) तथा प्रायिकतात्मक (Probabilistic) सूचनाओं के संसाधन नहीं कर सकते। न्यूरल नेटवर्क अपनी गतिकी (Dynamics) से अपने आप समायोजित हो जाते हैं। यह समायोजन भी भौतिक विज्ञान के नियमों से निर्देशित होता है। न्यूरल नेटवर्क के इस गुण के कारण इस सेल्फ ऑरगेनाइजिंग नेटवर्क भी कहा जाता है। बहुत सारे अभिकलित्रों का समूह जो व्यक्तिगत स्तर (Individual level) पर भौतिक विज्ञान के नियमों से निर्देशित होकर अपने आप समायोजन होता है, फजी तथा प्रायिकतात्मक सूचनाओं के संसाजन में समर्थ है।

मॉडलन (Modelling)

जैसा मैंने पहले बताया है न्यूरल नेटवर्क सरल अभिकलित्र अवयवों (Simple computing elements) का एक जाल है जिसमें ये अवयव एक दूसरे से सघनता से जुड़े होते हैं। इन अवयवों को 'न्यूरान' कहते हैं। हालांकि ये न्यूरान मस्तिष्क में पाये जोने वाले वास्तविक न्यूरान की तुलना में काफी सरल होते हैं, फिर भी इनमें वास्तविक न्यूरान के मुख्य गुणों का समावेश किया जाता है। 1943 ई. में वारेन मैक्ला तथा वॉल्टर पिट्स ने न्यूरान का एक अत्यंत सरलीकृत मॉडल प्रस्तुत किया और दिखलाया कि ऐसे सरलतम अभिकलित्र अवयव से भी उपयोगी तथा सार्थक (Non-trivial) अभिकलन किया जा सकता है। न्यूरान के इस मॉडल में न्यूरान की दो दशायें (States) संभव हैं, जिन्हें 0 तथा 1 से निरुपित किया जाता है। मस्तिष्क विज्ञान की भाषा में 1 न्यूरान की सक्रिय अवस्था तथा 0 उसकी निष्क्रिय अवस्था का द्योतक है। न्यूरान अन्य न्यूरानों से इनपुट प्राप्त करता है। यह इनपुट अन्य न्यूरान की अवस्था (State) पर तथा उनके बीच के बंधनों की शक्ति (Connection-Strength) पर निर्भर करता है। यह न्यूरान अन्य न्यूरान से प्राप्त इनपुट को जोड़ता है। फिर उसे थ्रेशहोल्डिग (Thresholding) करके अपनी नयी दशा तय करता है तथा अन्य न्यूरानों को प्रभावित करता है।

संक्षिप्त इतिहास

न्यूरल नेटवर्क की गतिकी (dynamics) न्यूरानों के बीच के बंधनों की शक्ति पर निर्भर करती है। किसी कार्य विशेष जैसे आकृतियों को पहचानने (pattern recognition) के लिए इन बंधनों को किस तरह चुना जाये? इस पर सर्वप्रथम विचार एडवर्डो

कैनिलियो (Eduardo Cainiello) ने 1961 में किया। उन्होंने मनोवैज्ञानिक हेब (Hebb) के सिद्धांत पर न्यूरल नेटवर्क के लिये अवगमन (learning) के सिद्धांत का प्रतिपादन किया। इसके आधार पर हम न्यूरान बंध की शक्ति निर्धारित कर सकते हैं। 1960 में फ्रैंक रोजेनब्लाट तथा उनके सहयोगियों ने एक विशेष किस्म के न्यूरल नेटवर्क का अध्ययन किया जिसे परसेप्ट्रॉन कहा जाता है। इसमें न्यूरान की दो सतहें होती हैं। एक को इनपुट सतह तथा दूसरे को आउटपुट सतह कहा जाता है। आउटपुट सतह के न्यूरान इनपुट सतह के न्यूरान से संकेत (Signal) प्राप्त करते हैं, परन्तु इनपुट सतह के न्यूरान कोई संकेत प्राप्त नहीं करते। एक ही सतह के न्यूरान के बीच में भी संकेतों का कोई आदान-प्रदान नहीं होता। इस तरह के नेटवर्क को फीड-फारवर्ड नेटवर्क भी कहते हैं। क्योंकि इसमें सूचनाओं का प्रवाह आगे की दिशा में होता है। कुछ ही वर्षों बाद मिंसकी तथा पैपर्ट ने यह साबित कर दिया कि परसेप्ट्रॉन एक साधारण तार्किक फलन XOR (ज़ॉर) को क्रियान्वित नहीं कर सकता। इससे परसेप्ट्रॉन संबंधी शोध को भारी झटका लगा। 1974 में विलियम लिटिल तथा 1982 में जॉन हॉपफील्ड ने न्यूरल नेटवर्क तथा भौतिक शास्त्र के स्पिन/चुम्बकीय निकायों (spin/magnetic system) में समानता दर्शा कर न्यूरल नेटवर्क के सैद्धांतिक विश्लेषण में भारी योगदान दिया। इसके बाद भौतिक विज्ञान तथा अन्य तकनीकी विधाओं के शोधकर्ताओं ने इस कार्य को आगे बढ़ाया है। हाल के वर्षों में इसके बारे में सैद्धांतिक समझ काफी बढ़ी है।

निर्माण इम्प्लीमेंटेशन :

साफ्टवेयर इम्प्लीमेंटेशन—प्रचलित कंप्यूटर पर प्रोग्रामन द्वारा न्यूरल नेटवर्क को सिमुलेट (Simulate) किया जा सकता है। शोध कार्यों के लिये तथा प्रदर्शनों (demonstration) के लिये या ऐसा किया भी जा रहा है। लेकिन यह न्यूरल नेटवर्क की मूल प्रवृत्ति के विपरीत है। यह एक समानांतर संशोधित (Parallel processing) को अनुक्रमिक (Sequential) तरीके से करना अप्रभावी तथा महंगा साबित होता है।

हार्डवेयर इम्प्लीमेंटेशन :

(क) इलेक्ट्रॉनिक—इलेक्ट्रॉनिक तकनीकी के उन्नत होने के कारण उपलब्धता की दृष्टि से यह आसान है। न्यूरान के लिए ऑपरेशनल प्रवर्धक (Amplifier) का इस्तेमाल किया जाता है तथा उनके बीच के बंध के लिये प्रतिरोधों (Resistors) का इस्तेमाल किया जाता है।

(ख) ऑप्टीकल—न्यूरल नेटवर्क के लिये ऑप्टीकल इम्प्लीमेंटेशन सबसे अधिक उपयुक्त हैं। न्यूरल नेटवर्क में न्यूरान एक दूसरे से सघन रूप में जुड़े रहते हैं। अत: न्यूरान बंधों (Neuron connections) की संख्या न्यूरान की संख्या के वर्ग के बराबर होती है। इलेक्ट्रॉनिक इम्प्लीमेंटेशन में इन्हें प्रतिरोधों तथा तारों (Wires) के माध्यम से इतने बंध बना पाना मुश्किल है, क्योंकि वहां हमें दो आयाम (2-dimension) ही उपलब्ध हैं, जबकि ऑप्टीक्स में हमारे पास तीनों आयाम (Three dimensions) उपलब्ध हैं। साथ ही, वैद्युतीय संकेत (Signal) आपस में व्यतिकरण (Interfere) भी करते हैं, जबकि प्रकाश की किरणों के साथ पदार्थ विहीन स्थान में ऐसा नहीं होता। ऑप्टीकल इम्प्लीमेंटेशन में न्यूरानबंध होलोग्राम या फोटो रिफ्रैक्टिव पदार्थों द्वारा बनाये जाते हैं। अरैखिक प्रकाशिकी के विकास से न्यूरल नेटवर्क के इम्प्लीमेंटेशन में काफी तेजी आयी है।

उपसंहार :

न्यूरट नेटवर्क ने विज्ञान तथा तकनीकी की विभिन्न शाखाओं को एक साथ ला खड़ा किया है। इसी का परिणाम है कि अमेरिका, इज़राइल तथा अन्य विकसित देशों में मनोवैज्ञानिक, भौतिक शास्त्री, न्यूरोलॉजिस्ट, इलैक्ट्रॉनिक इंजीनियर, कंम्प्यूटर वैज्ञानिक सब एक साथ मिलकर कार्य कर रहे हैं। हमारे देश में भी इस तरह के वैज्ञानिक-सहयोग की आवश्यकता है।

कुछ संदर्भ :

1. डी. जे. अमित, "मॉडलिंग ब्रेन फंक्शन", केम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रे, केम्ब्रिज 1989।

2. टी. कोहोनेन, "सेल्फ ऑर्गेनाइजेशन एंड असोसियेटिव मेमोरी", स्प्रिंगर-वरलाग, बर्लिन, 1989।

3. जे. एल. मैक्लैंड तथा डी. ई. रूमेलहार्ट, "पेरलल डिस्ट्रीब्यूटेट प्रॉसेसिंग", एम.आई.टी., प्रेस, केम्ब्रिज, 1986।

□□

अगला यथार्थ

❑ हिमांशु जोशी

कितना कुछ नहीं था मन में, यहां आते समय? कितने भाव, कितने विचार जो संतोष के साथ-साथ कहीं गहरे संताप के भी कारण थे-जिंदगीभर नासूर की तरह रिसते हुए .....

पर यहां आकर वह एक तरह से गूँगा-सा क्यों हो गया है?

अचरज भरी निगाहों से वह चारों ओर देखता है- हर रोज उमड़ते-घुमड़ते काले घने बादलों को! चारों दिशाओं में बिखरे जल, जल-ही-जल को ! अब तक शायद ही कोई ऐसा दिन बीता हो, जब बादल न घिरे हों, न गरजे हों, न बरसे हों। थोड़ी-सी झड़ी के बाद फिर एकाएक साफ आसमान। धुली धरती। ठीक सिर पर टकराती चुभती हुई उजली धूप।

अथाह पानी में तैरती-सी हरियाली की हरी-हरी क्यारियां। दूर-दूर तक छिटके छोटे-छोटे द्वीप । सामने वाला रॉस तो ऐसा लगता, जैसे हाथ बढ़ा कर छू लेगा .....

वह घंटों विस्फारित नेत्रों से इन्हें निहारता, न जाने क्या-क्या सोचता रहता है! परछाइयों की तरह कई आकृतियां उभरती-मिटती हैं। स्याह-सफेद कई-कई चित्र !

निर्जन-से इन द्वीपों से उसे अजनबीपन के साथ-साथ, कहीं अपनेपन का कोई अदृश्य रिश्ता-सा भी लगता है । धरती के कण-कण से एक अव्यक्त गहरा आत्मभाव ।

एक लंबी निश्वास के साथ, वह आंखें मूंद लेता है।

सच, तब कितना भयानक होगा, यहां का वातावरण। कल रात देर तक वह उस जेट्टी के पास खड़ा रहा, जहां कलकत्ता से आने वाले जलपोत रुका करते थे । कभी ऐसे ही एक जहाज से .....एक दिन..... ऐसे ही.....

जब तक दादी जिंदा थीं, बहकी-बहकी सी कितनी बातें बतलाया करती थीं, जैसे आंखों देखा हाल सुना रही हों। कालापानी में आकाश को छूते भयानक जंगल होते हैं रे। जंगल-ही-जंगल। सांपों, बिच्छुओं, जहरीले कीड़े-मकौड़ों से भरे। जिनके काटे का आदमी पानी तक नहीं मांगता.... वनों में खूंख्वार वन-मानुस। तीर-भाले चलाते हैं। आदमियों को भून कर खा जाते हैं। बिछौने पर, छतों की शहतीरों पर रस्सी की तरह सांप सरकते रहते हैं। धूल के कणों की तरह बारीक सफेद चीटियां देखते-देखते हाथी भी हजम कर जातीं .....'

अनपढ़ दादी को जो जिंदगी भर अपने गांव से बाहर नहीं गई, ये रोमांचक रहस्यपूर्ण बातें कहां से मालूम पड़ी, पता नहीं। कहते हैं, पास के गांव का एक लड़का कभी भाग कर कलकत्ता गया था। वहां पुलिस में भर्ती हो गया था। कैदियों को लाने-ले जाने के काम से दो-तीन बार कालापानी तक हो आया था। हो सकता है लौट कर उसी ने सुनाई हों ये बातें।

दादी कभी-कभी स्वयं से बड़बड़ाती, 'नाश हो इनका! कहते हैं ये राकस गोरे, कैदियों की नंगी पीठों पर चाबुक मारते हैं। खाल उधेड़ देते हैं। शरीर लहू-लुहान हो जाता है।.....दिन-रात बरखा-घाम में भी काम, काम ही काम, पर खाने को दो रूखी रोटियां तक नहीं..... तेरे दादाजी से तो भूख कतई बरदाश्त नहीं होती थी, फिर वहां कैसे रह पाते होंगे, रे!' दादी उड़ी-उड़ी-सी आसमान की ओर ताकने लगतीं, 'कहते हैं राकस टाट के चीथड़े पहनने को देते हैं। बीमार होने पर दवा नहीं, मरने पर दो लकड़ियां.... हाथ भर कफन तक नहीं..... तेरे दादा उस सर्दी में कैसे रहते होंगे..... ?' दादी फट कर रो पड़तीं तो उसे समझाते, 'वहां सर्दी नहीं पड़ती दादी, बारहों महीने खूब गरमी रहती है ।'

पर उस सारे दिन वह अपनी फटी धोती की चाल से आंखें पोंछती रहतीं।

अपने पूजा के देवताओं के पास रखे दादाजी के एक धुंधले-से चित्र पर रोज फूल चढ़ाती । अक्षत बिखेरती। जब तक जिंदा रहीं, उनका यही नेम-नियम रहा।

'हरकिसन, कोई चिट्ठी-पतरी नहीं आई..... ?' वह सहसा कुछ याद आने पर कहतीं, 'कहते हैं, बरस भर में एक ही चिट्ठी भेजने देते हैं। एक ही पाने। कौन जाने डाकखाने की गड़बड़ में कहीं इधर-उधर न हो गई हो !'

7/सी-2, हिंदुस्तान अपार्टमेंट्स, मयूर विहार, फेज-1, दिल्ली-91

पिताजी, चुप लगा जाते। क्या उत्तर दें, उन्हें कुछ सूझता न था।

दादी के प्राण दादाजी में बसते थे।

कहते हैं- दादाजी जब ऊन और घोड़ों का व्यापार करने जोलजीबी की तरफ भोट-तिब्बत की सरहद तक जाते, तब दादी का सारा ध्यान ऊनी कम्बलों, धुलमों, भोटिया घोड़ों की खरीद-फरोख्त तक सीमित रहता। दिन-रात वह ऊन और घोड़ों की बाते करतीं। पर बाद में दादाजी के क्रांतिकारी बनने पर उनकी चिंताओं के विषय भी बदल गए थे।

—कहते हैं फिरंगी गाय का मांस खाते हैं!

—फिरंगी हमारा धरम-भ्रष्ट करने सात समुंदर पार से यहां आए हैं।

—अब लड़ाई होगी । अपना धरम छोड़ने से तो मर जाना अच्छा है रे।

वह तब छोटा था। दादी की बातें समझ में न आने पर भी वे अबोध परियों और राक्षसों की कहानी जैसी रोचक लगतीं ।

जाड़ों की पीली-पीली गुनगुनी धूप में कभी बाहर आंगन में बैठते, या बाहर बर्फ गिरने पर घर के भीतर लोहे के 'सगड़' की आग के चारों ओर घेरा बना कर आग सेकते तो दादी खोई-खोई-सी कहतीं—

'तुम्हारे दादाजी को जब जनम-कैद की सजा हुई तो मेरी उमर बीस साल की थी। तुम्हारा बाप हरकिशन गोदी का बच्चा था.... तुम्हारे दादाजी को कालापानी ले जाते समय बेड़ियां भी लगवाई तब 'भारत माता की जै-जैकार' से आकाश गूंज उठा था। आदमियों का कैसा गिरदम्भ-सा मच गया था । इत्ती भीड़ लोगों ने शायद ही कभी देखी हो ।'

'पर रात को मातम-सा छा गया था उस दिन। आसपास के सारे गांव-घरों में कहीं चूल्हा नहीं जला था। मंदिर की धूनी रात भर धधकती रही थी । सैंकड़ों लोग आग के चारों ओर बैठे रहे।'

'सुबह पता चला कि घांट की डाक -चौकी जल कर राख हो गई है। इस पर फिरंगियों की पलटन आई। क्या-क्या जुल्म नहीं हुए, निरपराध लोगों पर। लोग घर-द्वार छोड़ कर पहाड़ की खोहों-उद्यारों में छिप गए थे। तब खौखियाये सिपाहियों ने बस्ती की बस्ती फूंक डाली थी.....।'

'उस दिन के बाद मैं रोज सामने वाले ऊंचे डांडे तक जाती। वहां से दूर तक सड़क दीखती है न ! उनकी राह देखती....।'

'दादी, क्या दादा जी फिर कभी लौट कर घर नहीं आए.... ?'

इस प्रश्न पर दादी की झुर्रियों से ढका बुढ़ा चेहरा न जाने कैसा-कैसा हो जाता। उनकी रोती आंखों में अजब-सा वीतराग तिरने लगता । चाह कर भी वे न रो पातीं। कहतीं, 'आंसू ही सूख गए हैं रे अब।'

पहाड़-सी कठिन जिंदगी उन्होंने यों ही गुजार दी थी— दादाजी के इंतजार में ।

जब वह बहुत बूढ़ी हो गई तो बहकी-बहकी सी कभी सुनाया करतीं, 'लोग गलत कहते हैं रे रामा, तेरे दादाजी अभी हैं। कभी-कभी फिरंगियों की नजरें बचाकर यहां आते हैं....। मुझे अभी भी याद है। हमारे हरकिशन की शादी के दिन मैं कितना रोई, कितना, उन्हें याद कर। बारात को विदा कर जब अपनी अंधियारी कोठरी में लौटी तो देखा, वे जमीन पर बिछे ऊनी चुटके में, पहले की ही तरह झक सफेद कपड़े पहने, पालथी मारे बैठे हैं, पता नहीं कब से इंतजार में.....'

'अरे हरिकिशन की इजा, तू इतीन परेशान क्यों है ? सब अच्छी तरह से निभ गया न! कल बहू भी आ जाएगी। घर में फिर चहल-पहल होगी....।'

दादी कहते-कहते फफक पड़ती, 'अपने हथेली का मांस खा कर मैंने अपने हरिकिशन को कैसे पाला, मैं ही जानती हूं। तुम तो मुंह उठा कर चले गए थे,' 'मैं उनसे गुस्से से कहना चाहती थी, पर मेरे कहने से पहले ही देखती हूं कि वे जा चुके थे। शायद फिरंगियों से पकड़े जाने की आशंका के कारण....! जब भी आते छिन-दो छिन इसी तरह छिप-छिप कर। कभी भरी आधी रात को चांद के उजास में हमारे बंजर खेतों की मेड़ पर खड़े दीखते। कभी चोराहे के पार, मंदिर की बड़ी सीढ़ियों पर उदास से गुमसुम बैठे। जब कोई विपदा होती, वे सामने खड़े दीखते। अपने बच्चों का मोह भला किसे नहीं होता रे....।'

दादी की पागलपन की इन बेतुकी बातों पर वे हंस दिया करते थे, 'दादी, तुम्हारा भी जवाब नहीं। बाबुजी कहते हैं, काला-पानी की जेल में भी दादाजी के पांवों पर लोहे की बेड़ियां होती थीं। फिर बता, उस बंद कोठरी से यहां वे कैसे आ

सकते हैं ? पानी के जहाज में ही हफ्ता दस दिन लग जाते हैं....।'

'यह सब तुम्हारा वहम है दादी....।'

'अरे, जैसे अभी तुझसे बातें कर रही हूं, वैसे ही उनसे भी होती हैं। यों ही मुझे पगला रहा है, शैतान कहीं का.....।'

दादी गुस्से से रूठ कर चुप हो जातीं।

कभी-कभी उसके पास बैठ कर बावली-सी कहतीं, 'रामा, तू बड़ा हो जाएगा तो तुझे लेकर कालापानी जाऊंगी। फिर वहीं रहूंगी । कहते हैं, साथ में कोई हो तो दुख का भार कुछ कम हो जाता है....।'

वह हंस पड़ता....।

अब दादी नहीं, पर कालापानी आकर लगता है, जैसे वे भी कहीं साथ-साथ यहां तक चल कर आई हो। दादाजी के कपड़े पोटली में बांध कर, कितने जतन से रखे थे—सबसे छिपा कर । □

यहां आकर वह कई वृद्धों से मिला, जिनके पूर्वजों का संबंध कालापानी के सजायाफ्ता देश भक्तों से रहा। पर दामोदार नाम के कैदी के विषय में कहीं कुछ पता नहीं चला कि उनके अंतिम दिन किस तरह, कहां बीते।

कहा जाता है कि दूसरे विश्वयुद्ध में जापानियों के आधिपत्य के समय सेल्युलर जेल के कई महत्वपूर्ण कागजात जला दिए गए थे। हां, एक अलमारी में कुछ पुराने धुमरैले कागजों के चीथड़े उसे अवश्य दीखे । किसी तरह अनुमति लेकर, वह उन्हें ही उलटने-पलटने, टटोलने लगा।

कैदियों की सूची में नाम था, पर अधिक विस्तृत विवरण नहीं। अंत में जीर्ण-शीर्ण पीले रजिस्टर के एक फटे पन्ने पर दीखा—'दामोदर पुत्र टीकाराम, ग्राम कुरौला, पट्टी छतारा, जिला:...इसके आगे सब कुछ फटा हुआ। हां, नीचे जेल की कोठरी की संख्या अवश्य कुछ-कुछ पढ़ने में नजर आ रही थी—'

कैदी संख्या अस्सी।

कोठरी संख्या दो सो पांच।

वह दौड़ता हुआ जेल की दो सौ पांच नंबर की कोठरी में पहुंचा, हांफता हुआ। लोहे का दरवाजा यों ही खुला था। झटके के साथ वह भीतर घुसा।

उस रीती काल-कोठरी में सीलन, धूल और मिट्टी के अलावा अब कुछ भी शेष न था।

खोजती हुई निगाहों से वह देर तक कुछ टटोलता रहा। बाहर-कपाटों के पास पत्थर की दीवार पर एक गोल कुंडा-सा गढ़ा है। कहते हैं— डंडा-बेड़ी के समय कैदियों को इसके सहारे बांध कर लटका दिया जाता था।

वह देर तक उस कुंडे को अपनी अंगुलियों से सहलाता मूर्तिवत खड़ा रहा।

इस रीते कमरे में अब कोई नहीं रहता, परंतु उसे लगता है—कोई रहता है।

कमरे में जाकर वह दीवारों को अपनी हथेलियों से छू-छू कर देखता है। उस टूटे फर्श को भी छूता है, बार-बार छूता है। उसे दीवारों और लोहे के दरवाजे पर एक प्रकार का स्पंदन-सा लगता है। लगता है, पीछे से अभी आकर दादाजी कहेंगे, 'अरे रामा, तू यहां क्या कर रहा है ?'

दरवाजे से लगा, लोहे का एक मोटा-सा राड़, दीवार के एक हिस्से को छेद कर, दूसरे किनारे तक चला गया है। वहां पर ताला लगाने की व्यवस्था है, ताकि कैदी किसी भी स्थिति में निकल भागने में सफल न हो ! वह बाहर आता है—दूर तक चला गया लंबा बरामदा। एक छोर से दूसरे छोर तक।

सांझ घिरने लगती है तो वह भारी-भारी कदमों से सीढ़ियों से नीचे उतरने लगता है।

बाहर खुले आंगन में लोहे और पत्थर का भारी भरकम कोल्हू वैसा का वैसा रखा है। दोनों हाथों से ऊपर उठाने का प्रयास करता है। वह जवान होकर नहीं उठा पा रहा है, फिर बूढ़े बीमार दादाजी किस तरह इसे उठाकर, आठ-आठ घंटे बैल की तरह तेल पेरते होंगे ?

पास ही कैदियों के नहाने का वह बित्ते भर का चबूतरा। नारियल के खोल के टुकड़े में अंजुरी भर खारे पानी से कैसे नहाते होंगे, ऊमस भरी दोपहरी में ?

पूर्वी छोर पर काठ की एक काली-सी कोठरी अभी भी है। जहां छत पर, लकड़ी के गोल शहतीर पर, नारियल की मोटी रस्सी का गोल फंदा नीचे लटक रहा है। नीचे पांवों के पास दो तख्ते हैं उनके नीचे अंधियारा कुआं।

'लाश के लटके रहने के लिए तख्ते तुरंत हटा दिए जाते थे। और बाद में लाश नीचे अंधेरे तहखाने में उतार दी जाती थी···।' पास खड़ा कोई कह रहा है ।

वह बहरा-सा, गूंगा-सा उस तहखाने को विस्फारित नेत्रों से ताकता रहता है। जहां अभी भी बिखरे हैं,खून के छींटे । एक मूक-क्रंदन अभी भी कहीं व्याप रहा है।

बोझिल कदमों से वह आगे निकल जाता है।

सामने की ईमारत में, एक बड़े-से कमरे में बिजूका की तरह टंगे हैं, टाट के फटे कपड़े। लोहे के जंग लगे, टूटे बर्तन, हथकड़ियां, बेड़ियां सब प्रदर्शनी की तरह सजा कर रखे हैं।

रात को वह खाना नहीं खा पाता।

वहां का भुतहा वातावरण उसका पीछा करता रहता है। एक गहरा अवसाद उसे घेर लेता है।

लौटकर कमरे में आता है तो वह कमरा भी उसे वैसा ही, काल-कोठरी जैसा लगता है डरावना। □

इतने दिन हो गए भटकते-भटकते, परंतु कहीं कोई अता-पता दीखता नहीं ।

कुछ लोगों की धारणा है कि जब जापानियों ने जेल के किवाड़ खोल दिए तो कुछ कैदी बाहर निकल आए थे।

हो सकता है, उनमें वे भी रहे हों।

पर बाहर निकलकर फिर कहां गए? कहीं तो कोई सुराग मिलता!

बाद में जापानियों ने जो नृशंस हत्याएं कीं, हो सकता है, उसमें वे भी मौत के घाट उतार दिए गए हों !

जीवित होते तो बाहर आकर, कभी तो घर कोई पत्र भेजते ? ❑

यहां दामोदर नाम के क्रांतिकारी का कहीं कोई अवशेष नहीं दीखता। सड़कों पर, बस्तियों में घूमता हुआ, वह हर वृद्ध की आकृति के भीतर झांकने का प्रयास करता है, कहीं यही तो नहीं! कहीं ऐसे ही तो नहीं ! दादी के देवताओं के पास जो चित्र था, यहां की अधिकांश वृद्ध आकृतियां उसे वैसी ही लगती हैं।

उसे कहीं भ्रम-सा लगता । एक प्रकार का दृष्टिदोष···· ।

कल किसी ने लंबा लाइन क्षेत्र में वाजिदा बेगम नाम की एक अधेड़ महिला से मिलवाया था। उनके दादा अनवर आगा जौनपुरी उत्तर भारत के रहने वाले थे। सैल्यूलर जेल के कैदी जब हमेशा के लिए मुक्त हुए तो वे यहीं रह गए थे।

'दामोदर पंडित नाम के एक इन्कलाबी कैदी का जिक्र तो कभी-कभी किया करते थे। वे जिन्होंने कैदियों के लिए जंगली घास की बनी हरी सब्जी में से एक बार सांप का कटा टुकड़ा लेकर जेलर बारी को दिखलाया था और विरोध में भूख हड़ताल की थी····· । दादा जान कहते थे, जब उनकी पीठ पर चाबुक की मार पड़ी तो चाबुक के चमड़े के साथ-साथ पीठ का मांस भी चिपककर, निकल आया था····· । सारा कच्चा फर्श लहू-लुहान हो गया था····· ।'

कुछ लोग सुना रहे थे कि जेल से भागे कुछ कैदी आदिवासियों की नाव में, एक झुंड की शक्ल में सागर में निकल पड़े थे। वहां से कहां विलीन हो गए, कुछ अता-पता नहीं···· ।

कमरे में रोशनी जलाकर देखता है-उसके बिस्तर पर भूरे-सफेद रंग की एक चादर-सी बिछ गई है। तमाम बारीक चीटियां भर गई हैं। जो चबैना वह अपने बैग में, जाते समय यों ही पलंग पर धरकर रख गया था, सब गायब है।

बाथरूम में मोरी में से सांप - जैसे लंबे-लंबे पतले केंचुए गुच्छे की शक्ल में भीतर आकर फर्श पर सुतली के तागे की तरह इधर-उधर सरक रहे हैं।

वह धड़ाम-सा बाथरूम का किवाड़ मूंद कर बाहर आता है।

चादर उठाकर बाहर बरामदे में फेंकता है और दिन भर का हारा-थका-सा रीते पलंग पर यों ही चित्त लेट जाता है।

धूल-जैसी बारीक चींटियां अभी भी बिस्तर पर कहीं-कहीं रेंग रही हैं। उनके काटने से सारे शरीर में तीखी जलन-सी मचने लगती है।

शायद बाहर अब बारिश हो रही है। तेज हवा चल रही है।

तभी दरवाजे पर लगातार खटखटाने की जैसी आवाज सुनाई देती है उसे। कुंडा खोलकर देखता है। खादी के फटे कपड़े पहने, लंबी दाढ़ी वाले एक वृद्ध पानी से भीगे, सामने खड़े हैं।

'आप क्रांतिकारी दामोदर पंडित के बारे में पूछ रहे थे न! हमारे पड़ोसी कुटप्पा बतला रहे थे····· ।'

'जी हां। वे मेरे दादाजी थे। कालापानी की सजा पर आए थे। लगता है, उन्हें गुजरे भी अब अर्सा हो चुका होगा····'

'गुजरे' शब्द उसे भारी-सा लगता है। लगता है, ऐसा नहीं कहना चाहिए था। जब मरे-बचे का पता ही नहीं तो····· !

वृद्ध बड़ी करुण-दृष्टि से उसे देखते रहते हैं।

'हम दोनों अर्से तक साथ-साथ रहे थे बेटे!' कुछ रुककर वह कहते हैं, 'चलो मेरे साथ! मैं बतलाता हूं।'

बाहर अब वर्षा उतनी तेज नहीं। कुछ-कुछ थमने की जैसी प्रक्रिया में है। वह वैसा ही अकबका-सा किवाड़ मूंदकर उनके साथ-साथ बाहर निकल पड़ता है।

देर तक वे चुपचाप चलते रहते हैं।

पगडंडी-जैसा कच्चा रास्ता।

'वह सामने जो जंजीरा दीख रहा है न, कैदी पहले वहां खुले बाड़े में जानवरों की तरह छोड़ दिए जाते थे। यह दीवारों वाली जेल तो बहुत बाद में बनी थी।' वे इस तरह से धीरे-से कहते हैं, जैसे स्वयं से बातें कर रहे हों।

हल्के से ढलान के बाद अब थोड़ी-सी चढ़ाई है। वृद्ध अपनी चादर संभालते हुए मुड़कर देखते हैं... 'उनकी कोई सूचना सरकार ने कभी आप लोगों को नहीं भेजी?'

'ना।'

'बहुत भले आदमी थे वे। पर थे बहुत जिद्दी। बारी के जुल्मों के खिलाफ 17 अप्रैल को उन्होंने भूख-हड़ताल की थी। उसी में प्राण त्याग दिए थे बेचारों ने.....।'

सेल्युलर जेल की दीवारों से पीछे वे एक संकरे से ऊबड़-खाबड़ मार्ग से आगे बढ़ रहे हैं। इस उम्र में भी वृद्ध में बड़ी कड़क है। उससे भी तेज गति से चल रहे हैं।

बाहर पूर्णमासी का पूरा चांद खिला है। घने बादल छितरा गए हैं। सारा वातावरण निस्तब्ध। हां, सागर में प्रलय-का जैसा ज्वार है। किनारे की चट्टानों में लहरें टूट-टूट कर बिखर रही हैं। सतह पर सफेद झाग-सा उभर रहा है।

'उनकी मृत्यु के दिन भी ऐसा ही पूरा चांद था। रात के सन्नाटे में दो खूंख्वार पठान कैदियों ने चुपचाप उनकी नंगी लाश कंधों पर उठाई और ज्वार आए सागर में यहां छपाक-से फेंक दी थी.....।'

वृद्ध का भारी स्वर भर्रा आया है। वे मूर्तिवत् स्तब्ध खड़े सागर की उफनती लहरों में कुछ खोजने-से लगते हैं।

कुछ क्षण का मौन तोड़ते हुए कहते हैं, 'वह देखो, वह देखो....दूर... समुद्र की लहरों में कुछ तिरता-सा तुम्हें दीख रहा है न! काला-काला-सा...।'

वह ध्यान से देखता है, एकाग्रभाव से। सन्नद्ध।

'हां, लहरों के ऊपर एक काला-काला चीथड़ा जैसा कुछ...।'

'पूर्णमासी की रात को कभी-कभी यह तिरता चीथड़ा-सा लोगों को आज भी दिखलाई देता है....। कुछ लोग वहम भी कहते हैं इसे..... पर जो सामने दीख रहा है, क्या वह मात्र वहम है..... ?'

कहते-कहते यकायक वे मौन हो जाते हैं।

पता नहीं कितनी देर तक वह वैसा ही जड़वत खड़ा रहता है।

अब उनके पांव यंत्र की तरह डेरे की ओर मुड़ते हैं। दोनों चुप हैं। □

लौटने पर वह फिर कमरे में आता है, पर अब नींद नहीं आती। असंख्य चीटियां बिस्तर पर फिर बिखर गई हैं। केंचुए सारे बाथरूम में बिछ गए हैं। एक धूमिल-सी आकृति बार-बार उसकी आंखों के आगे उभरती है और ओझल हो जाती है.....।

दादी आज जिंदा होतीं तो यही कहतीं, 'मैं कहती थी न, तेरे दादाजी अभी हैं रे! एक बार कभी उन्हें देख आती तो मरते समय कितनी शांति मिलती.....।' □□

"राष्ट्र के एकीकरण के लिए सर्वमान्य भाषा से अधिक बलशाली कोई तत्त्व नहीं। मेरे विचार में हिन्दी ही ऐसी भाषा है।"

लोकमान्य तिलक

हिंदी भाषा का निर्माण और सुमित्रानन्दन पंत

□ शक्ति त्रिवेदी

पाठक और आलोचकों ने पंतजी को यह फतवा दे रखा था कि उनकी भाषा क्लिष्ट, संस्कृतनिष्ठ और अगम्य है। साहित्य अनुरागी और काव्यप्रेमियों ने पंतजी के काव्य और धाराओं का रसास्वादन किया। जो अब तक ब्रजभाषा काव्य का आनन्द लेते थे, उन्हें आधुनिक हिन्दी (खड़ी बोली) में रची कविताओं में नयापन लगा और उनकी ग्राह्यता बढ़ती गई। वैसे पंत की कविता जीवन के सहज उद्‌गार हैं और उनकी भाषा उनके भावों का सुन्दर और सहज परिधान। उन्होंने कभी भाषा का पांडित्य दिखाने के लिए कविता नहीं लिखी। उन्होंने तो कविता के लिए कविता लिखी। उन्हें तत्कालीन साहित्य की परम्परा से जो भी भाषा मिली, उसे उन्होंने कई गुना बढ़ाकर, नए आयामों को गढ़ा और उसमें लय, गति और तालछंद का समागम बिठाया। भाषा की दुरूहता छू होकर रह गई। वह स्वयं संगीत जानते थे। अत: उनकी कविता में गेयात्मकता मुखरित हुई।

साहित्यिक पठन-पाठन और ज्ञान के लिए केवल हिन्दी वर्णमाला का प्रारंभिक ज्ञान ही आवश्यक नहीं— इसके लिए साहित्यिक वृत्ति बनानी पड़ती है और भाषा का समुचित ज्ञान भी जरूरी है। पंतजी के आरंभिक युग में उर्दू-फारसी का बोलबाला था। इसी से हिन्दी, उर्दू और देसज भाषाओं के शब्दों से मिलकर बोलचाल की भाषा हिन्दुस्तानी बनी। देसज शब्दों में अवधी का घालमेल ज्यादा था—ब्रजभाषा का कम। इससे पूर्व हिन्दी के नाम पर देवकीनन्दन खत्री के भूतनाथ और चन्द्रकांता इत्यादि तिलस्म और जासूसी के उपन्यास लाखों हिन्दी पाठकों तक पहुंच चुके थे। तुलसीदास का रामचरितमानस अवधी भाषा की पैंठ हिन्दी में बना चुका था। लोक जीवन में उसकी साहित्य और भक्ति पर पकड़ ज़बर्दस्त थी।

पंतजी के जन्म से 15-20 वर्ष पूर्व भारतेन्दु युग में गद्य की भाषा खड़ी बोली और पद्य की भाषा ब्रज ही थी। मृत्यु से पूर्व भारतेंदु जी को विचार आया कि गद्य और पद्य की भाषा एक ही हो। परन्तु ब्रज के सरस छंद और रीति परम्परा में और उर्दू में 'रसा' के तरवल्लुस से स्वयं काव्य रचने वाले भारतेन्दु खड़ी बोली की कविता में कोई धाक न जमा सके। महावीर प्रसाद द्विवेदी युग में जिन्होंने खड़ी बोली का पद्य लिखा उसे भी गद्यमयी बना दिया और वह कविता का स्वाभाविक लालित्य पैदा न कर सके। इसी दौरान 1920 के आसपास पंतजी ने खड़ी बोली में कविताएं लिखीं और भाषा को सही सांचे में ढालने के प्रयास किये।

शायद इससे पहले कविताई खड़ी बोली के सही दायरे में फिट नहीं हुई थी। उदाहरण के लिए 1921 में पंतजी की 'उच्छवास' कविता ऐसी बन पड़ी कि इससे पूर्व खड़ी बोली की कोई भी कविता भाषा और शब्द सौन्दर्य की दृष्टि से उतनी सुग्राह्य और गम्य नहीं मिलती। फरवरी 1922 के सरस्वती पत्रिका के अंक में विद्वान शिवाधार पांडे ने लिखा था कि "पंत अपनी कविता में भाषा को सुन्दर भाव से बजाता है। संगीत को वह उंगलियों पर नचाता है। मानो शब्दों को फूलों की तरह सूंघ-सूंघ कर उनसे मनमाना मकरंद चूसता है और कविता में मधु उड़ेलता है।" इस उक्ति ने हिन्दी कविता में संस्कृतमयी पदावली को दोष लगाने वालों का मुंह तो बंद नहीं किया। पर पद्य में भी गद्य की भाषा पढ़ने के आदी लोगों को इसके बाद भी टीका-टिप्पणी करने के अवसर मिलते रहे।

20वीं सदी के पहले दशकों में उर्दू के शायर इकबाल और हाली लोगों की जुबान पर चढ़े थे। वे अपने जज्बातों से भारतीय संस्कृति को साम्प्रदायिक की ओर मोड़ने में लगे थे। वास्तव में खड़ी बोली इसलिए नहीं जन्मी थी कि वह अपने में उर्दू, फारसी, अवधी या अन्य देसज भाषा-बोलियों के शब्दों को देवनागरी लिपि में सीधा उपयोग करे। खड़ी बोली जो आधुनिक हिन्दी बनने जा रही थी—उसे अपना वजूद स्वयं बनाना था। देश की भारतीय संस्कृति का प्रतिनिधित्व तभी हो सकता था। यद्यपि इस समय हिन्दी के प्रणेता कहे जाने वाले भारतेन्दु भी उर्दू, फारसी अदब के दबाव में आकर यह राग अलाप रहे थे—'भाषा भई उर्दू जग की'। परंतु सुमित्रानन्दन पंत, महादेवी, प्रसाद, निराला, मैथिलीशरण गुप्त और दिनकर जैसे प्रभावी हिन्दी के आधुनिक कवियों ने किसी की परवाह किये बगैर खड़ी बोली को सुदृढ़ आयाम दिये। इसके लिए एक ही रास्ता था कि भारतीय संस्कृत भाषा को समास से व्यास में तोड़कर नए-नए शब्द गढ़े जायें

बी-25, गुलमोहर पार्क, नई दिल्ली-49

और उन्हें हिन्दी की नई कविता में उतारा जाये। इस काम में सबसे ज्यादा पहल की प्रसाद और पंतजी ने।

भारत के सांस्कृतिक कारणों से नई हिन्दी उर्दू की ओर नहीं झुक सकती थी। ऐसी स्थितियों में संस्कृत भाषा का सहारा लेने के अलावा और चारा ही क्या था। फिर संस्कृत के काव्य, महाकाव्य, नाटक और प्राचीन कथा साहित्य ही तो भारतीय संस्कृति की मूल विरासत थे। ऐसे में हिन्दी को संस्कृत की आत्मजा बनाना ही श्रेयस्कर लगा। वह अरबी, फारसी या किसी भी अन्य भारतीय भाषा की चेरी कैसे बन सकती थी। स्वयं बंगला भाषा ने भी माइकेल मधुसूदन दत्त तथा रवीन्द्रनाथ टैगोर की प्रेरणा और सद्प्रयासों से संस्कृत भाषा की कोमलकांत पदावली को बंगला काव्य में उतारा। मैथिली ने भी यही किया। उधर अन्य भाषाओं पर भी संस्कृत का उतना ही प्रभाव पड़ा, जैसे उड़िया, मराठी और गुजराती काव्यों को देखें।

सचमुच खड़ी बोली ही इन स्थितियों में संस्कृत भाषा पर निर्भर होने को विवश थी। पंतजी की विवशता उनकी अपनी नहीं खड़ी बोली की ही विवशता थी। उन्होंने तो इस विवशता को सुन्दर बनाकर कलात्मक स्वरूप प्रदान किया। उन्होंने संस्कृत भाषा के उन भूले बिसरे शब्दों को अपनी कविता के भावों की दृष्टि से ठोक बजाकर ही ग्रहण किया। उनमें सुरूचि पैदा की। उनके काव्य 'युगांत' तक उन्होंने संस्कृत के शब्दों को लेने में कलाप्रियता दिखाई। दो उदाहरण भी देखें—'द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र'—इस द्रुत भाव में लगता है कि पत्ता टूटकर गिरना ही चाहता है। दूसरे में—'गा कोकिल, बरसा पावक कण' में लगता है आग अपने आप ही जैसे भभक कर जलने वाली है। इनके स्थान पर यदि 'जल्दी' और 'चिन्गारी' शब्दों का वह प्रयोग करते तो उसमें इतना भाव सौन्दर्य और कलात्मकता न होती।

पल्लव, गुंजन, ज्योत्सना—सभी में ऐसे भाषा के प्रयोग पंतजी ने सफलता से किये। इन शब्दों के विकल्प ही नहीं हैं। शब्द बदलते ही कविता का जादू नष्ट होता-सा लगता है। वैसे तो इस संक्रांति काल में खड़ी बोली के सभी कवियों ने संस्कृत पदावली को चुना, परन्तु पंतजी ने जो कलात्मकता बरती वह अन्य किसी ने नहीं। वास्तव में पंतजी के शब्दों की क्लिष्टता शब्दों की नहीं, मात्र अभिव्यंजना, नवीन दर्शन और चिन्तन की है। इसे समझने के लिए पाठक या साहित्यकार को विस्तृत चेतना का फलक चाहिए। पंतजी की काव्य रचना से पहले नई दृष्टि का अभिव्यंजना का सौन्दर्य था ही कहां? रामचन्द्र शुक्ल और महावीर प्रसाद द्विवेदी ने यह सब कहां देखा। पंतजी व्यंजना की सीढ़ियों पर अपनी उत्तरोत्तर मानसिक प्रबुद्धता के साथ इतनी तेजी से चढ़ते गये कि भाषा भी उनका साथ देने में पिछड़ गई। 'युगवाणी' को लें—उसका समझ में न आना केवल शब्दों की कठिनता नहीं है। बल्कि नई विचारधारा की पाठक के बौद्धिक स्तर में सीधी पैंठ का न होना है। 'स्वर्णधूलि' और 'स्वरणकिरण' रचनाओं के बारे में भी मैं यह कह सकता हूं कि शब्दों के अर्थ लगाना तो पाठकों को कठिन न होगा, परन्तु चिन्तन की अगम्यता अवश्य आड़े आयेगी।

सत्य दृष्टि से देखा जाये तो हिन्दी (खड़ी बोली) के पैदा होते ही विश्व के नवजागरण के युग में भारत की सदियों से परम्परा, रूढ़ियों और अंधविश्वासों में धंसी आत्मा को वैचारिक विकास और शुद्धता देने में पंतजी की विचारधारा, नई चिन्तन दृष्टि और मुखर वाणी और संस्कृत से उठाये शब्दों ने उनकी कविता के माध्यम से हिन्दी के उत्थान युग में महती क्रांति की। सारा उत्तरदायित्व इसका पंतजी को ही वहन करना पड़ा। पंतजी की भाषा कठिन, वाणी दुरूह हो भी तो उनकी रचनाओं में भविष्य के प्रति आस्था और आश्वासन तो स्पष्ट दिखते हैं जो नए विचार-पंख लगाकर उड़ रहे हैं—'ग्राम्या' की कुछ पंक्तियां लें—

युगकर्म शब्द, युग रूप शब्द, युग सत्य शब्द,
शब्दित कर भावी के सहस्र शत मूक अब्द,
ज्योतित कर जनमन के जीवन का अंधकार,
तुम खोल सको मानव उर के निशब्द द्वार,
वाणी मेरी क्या तुम्हें चाहिये अलंकार।

और भी देखें—

तुम वहन कर सको जनमन में मेरे विचार,
वाणी मेरी—क्या तुम्हें चाहिये अलंकार।

यदि पंतजी की कविता के पाठक उनकी कोमल भावनाओं और नए विचारों से अपना तादात्म्य कर सकें तो उनकी भाषा और कविता की गहराई को समझने में कोई कठिनाई न होगी।

पंतजी की क्लिष्ट और संस्कृतनिष्ठ भाषा के संदर्भ में एक विनोदपूर्ण घटना कही जाती है। पंतजी निश्चय ही आधुनिक हिन्दी के युग निर्माता थे। क्रांतिकारी विचारक भी। वह भाषा-प्रयोग के प्रति तो अवश्य गंभीर थे, पर थे विनोद प्रिय। वह एकदम बीरबल की तरह हाजिर जबाब भी थे। बचपन में ही उन्हें भाषा के नए--नए शब्द गढ़ने का चाव था। उनमें प्राकृतिक प्रतिभा भी थी। जब वह स्कूल में पढ़ते थे तो एक अध्यापक ने जो उर्दू के काहिल थे और पंतजी द्वारा प्रयुक्त संस्कृतनिष्ठ भाषा से चिढ़ते थे, एक बार कहा—

'तुम्हारी भाषा बड़ी कठिन होती है। तुम हिन्दी लिखते हो या संस्कृत? भई जरा सोच समझकर हिन्दी में सरल शब्दों का प्रयोग करना सीखो।'

यह बात पंतजी को लग गई। उन्होंने कक्षा में दिए गए 'मित्र के नाम एक पत्र' को सरल हिन्दी में लिखने की चेष्टा की परन्तु न लिख पाये। फिर भी अध्यापक जी को प्रसन्न करने के लिए पत्र को समाप्त करते हुए निम्न पंक्तियां लिखीं—

खतोत्तर जरा जल्दी देना।

तुम्हारा

मोहब्बताभिलाषी दोस्त

सुमित्रानन्दन

हिन्दी भाषा पर अधिकार होते हुए भी वह कभी-कभार मजाक में अंग्रेजी बोलने वाले व्यक्ति को अंग्रेजी में ही विनोद भरा उत्तर दे देते।

पंतजी तैरना न जानते थे। एक बार मुम्बई प्रवास में सागर किनारे ज्वार आने पर लहरें टकराई तो घबरा गए। किसी मित्र को किस्सा सुनाने लगे—'अगर मैं तैरना जानता तो कितना अच्छा होता।'

मित्र अंग्रेजीदां थे—तपाक से बोले—'यू कैन लर्न इट इविन नाउ। यू आर नॉट सो ओल्ड फॉर दैट'

पंतजी ने प्रसन्न मुद्रा में उत्तर दिया—'यस सर आई एम नॉट ओल्ड एनफ, बट यू सी, आई एम नॉट बोल्ड एनफ' सभी उनके भाषा-प्रयोग पर हंस पड़े।

भाषा निर्माता तपस्वी और समृद्ध साहित्यकार श्री सुमित्रानन्दन पंतजी के इस लेख को मैं इस छोटे संस्मरण के साथ समाप्त करता हूं।

साहित्य सृजन की चर्चा चल रही थी। कोई महिला भी इसमें शरीक थी। वह पंतजी की ओर मुखातिब हो खुशामदाना लहजे में कहने लगी—मैं समझंती हूं बिना तपे कोई अच्छी रचना नहीं लिखी जा सकती।

पंतजी सुनकर बड़े इत्मीनान से कहने लगे—'आप बजां फरमाती हैं। अपना शहर इलाहाबाद इस दृष्टि से अच्छा है। यहां गर्मियों में भयंकर तपन रहती है। जी भर कर तपिये और उत्तम साहित्य रचिये।'

तात्पर्य यह है कि खड़ी बोली को नये आयाम देने वाले पंतजी अंग्रेजी, उर्दू और संस्कृत तथा बंगला भाषा भी जानते थे और भाषा-निर्माण के काम को गम्भीरता से अंजाम देते हुए भी मजाक में उर्दू, अंग्रेजी और तमिल या बंगला किसी भी बोली से परहेज नहीं करते। उनका दृष्टिकोण संकुचित न होकर व्यापक और राष्ट्रीय रहता था। □□

****

"शिक्षा जब पराई भाषा में दी जाती है तब केवल शब्दों को याद रखने का बोझ ही विद्यार्थी के दिमाग पर नहीं पड़ता, बल्कि विषय को समझने में भी उसे बड़ी कठिनाई होती है। यह तो स्पष्ट है कि जहां रटने की शक्ति, बढ़ती है वहां समझने की शक्ति मन्द पड़ जाती है। हमारे मुल्क की संस्कृति एक ही है - यह हिन्दी संस्कृति है।"

- सरदार बल्लभ भाई पटेल

****

21वीं सदी—क्रांतिकारी वैज्ञानिक प्रौद्योगिकियों के साथ

□ प्रो० एन० सी० मूर्ति

आमुख :

आहिस्ता-आहिस्ता समय इक्कीसवीं सदी की ओर फिसलता जा रहा है। कुछ सजग लोगों के लिए शायद ऐसा भी लग रहा होगा कि समय भाग रहा है और इन त्वरित परिवर्तनशील परिस्थितियों में उन्हें अपने निर्धारित लक्ष्यों को प्राप्त करना है। ऐसे भी लोग हैं जो बार-बार अपने आपसे पूछते हैं, "क्या हम कर पाएंगे? क्या हम सही दिशा में जा रहे हैं, क्या हमारी गति पर्याप्त है?" आदि। यही वे लोग हैं जो इक्कीसवीं सदी में आने वाले अनेक सुअवसरों की परिकल्पना कर सकते हैं। वे जानते भी हैं कि इन्हें विश्व ग्राम की बदलती परिस्थितियों के अनुकूल रहना पड़ेगा और सीमारहित विश्व व्यापार में उन्हें टिकना भी होगा। यह भी उन्हें ज्ञात है कि रास्ता आसान नहीं है तथा समस्याएं अनेक होंगी। फिर भी उस "अनोखी दुनिया" की ओर प्रस्थान करने का विचार उन्हें इतना उत्तेजित करने लगा कि संभाव्य समस्याएं विचलित भी नहीं करतीं। समस्याएं तो अवश्य रहेंगी उनका समाधान भी मिलेगा। सदैव ऐसे उत्साही आशावादियों को लक्ष्य साधना प्रधान होता है, समस्याएं नई नहीं लगतीं।

आखिर ऐसी कौन-सी बात है जो इन लोगों को इतना उत्तेजित कर रही है? ऐसे क्या सुअवसर हैं जो उन्हें बवंडर-सा अपने साथ लिये जा रहे हैं?

वे आम-दिन तीव्र गति से होने वाले प्रौद्योगिकीय विकासों के साथ अपनी सीमा में आने वाले व्यापारिक बेमिसाल सुअवसरों को देख पा रहे हैं। वे लोग यह भी पहचान रहे हैं कि वे उच्च कोटि के उत्पादन और सेवाओं को चाहते हैं और भावी प्रतियोगिताओं के साथ कोई आमना-सामना करना न पड़े। वे नवीन प्रौद्योगिकी द्वारा नये व्यापारिक सुअवसरों से लाभ उठाना और हर क्षेत्र में सीमाओं को लांघना चाहते हैं।

नई वास्तविकताएं :

प्रौद्योगिकीय परिवर्तन ने आज की वर्तमान परिस्थिति को चरमरा दिया है। परिणामस्वरूप 21वीं सदी में सफलता या विफलता स्पष्टत: सामने आएंगे। इस वास्तविकता की उपेक्षा करने की हिमाकत कोई भी नहीं कर सकता। जो भी इसकी उपेक्षा करेंगे वे आधुनिक काल से पीछे रह जाएंगे और गरीबी की गिरह में आ जाएंगे तथा अतीत के संरक्षण से वंचित होकर निराश हो जाएंगे और सुनहरे भविष्य के वरदानों से परित्यक्त हो जाएंगे।

हम इन वास्तविकताओं को परखेंगे। विश्व भर में कृषि-औद्योगिकीय क्षेत्र में एक प्रकार की अदृश्य-क्रांति छाने लगी है। चूंकि हमारी अर्थव्यवस्था विशेष रूप से कृषि संबंधी है, इसलिए उपलब्ध सुअवसरों का तुरंत लाभ उठाने के लिए हमें अपने सामर्थ्य का पता लगाना चाहिए।

पिछले 50 वर्षों के दौरान पेट्रोरसायन-उद्योग के हाथ जीते गये बाजार को कृषि-क्षेत्र हथियाने की प्रबल इच्छा रखता है। नाइलान फूस (*Cobbs*) से बनाया जाता था आज सभी पेट्रोलियम आधारित बन रहा है। पेइंट पहले वनस्पति तेलों से बनाए जाते थे अब लेटेक्स ने उसका स्थान ले लिया है। उसी तरह कपड़ा बाजार में संश्लेषित तंतुओं (*Synthetic fibres*) ने मैदान मार लिया है। विशेष रूप से कालीन बनाने के लिए इन संश्लेषित तंतुओं का प्रयोग किया जाता है।

आजकल, व्यापारी कृषि सम्बन्धी कच्चे माल की ओर नवीन दृष्टिकोण से देखने लगे हैं। इसके विशेष कारण हैं :—

(*i*) इन पारम्परिक पण्यों की अधिकता, (*ii*) उपभोक्ताओं से पर्यावरण रूप से सुगम उत्पादों के लिए मांग, (*iii*) प्रौद्योगिकीय विकास जिससे इन कच्चे-मालों से नये उत्पादों को बनाया जा सकता है। इससे अविश्वसनीय रूप से नये उत्पादों की गुणवत्ता और सेवाओं के लिए मार्ग खुल गए हैं। कुछ एक का वर्णन इस प्रकार है :

बहुलक (Polymers) :

एथनाल के उत्पाद में मकई और आलू कच्चे माल के रूप में उपयोग में लाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त इन से स्टार्च (*Starch*) भी बनाया जाता है। कई स्टार्च-आधारित बहुलकों का नवीन उपयोगों सहित विकास किया गया है। उदाहरण के तौर पर :

(*i*) **इको-फोम :** यह एक नूडिल आकार (*Noodle shaped*) में रहने वाला बहुलक है जिसका प्रयोग मूँग-फ़ली के प्रयोग में लाया जाता है। यह विस्तृत पॉलिस्टिरीन

भारतीय रासायनिक प्रौद्योगिकी संस्थान, हैदराबाद

(*expanded polystyrene*) की जगह बनाया गया है और जैव निम्नीकृत है ।

(*ii*) **नोवोन बहुलक :** इसका फास्ट फूड पैकिंग में सक्षम रूप से उपयोग किया जाता है जैसे—कप, सॉफ्ट ड्रिंक या कोका-कोला, फांटा, आदि के ढक्कनों में, स्ट्रा और कटलरी के रूप में प्रयोग में लाया जाता है।

ये दोनों स्टार्च आधारित बहुलक गंदे पानी के उपचार में गल जाता है या भूमिग्रस्त कूड़े-खाद में सड़ जाता है।

सिट्रिक और लेक्टिक अम्लों की तैयारी में मक़ई को सामान्यत: कच्चे माल की तरह उपयोग किया जाता है इन दोनों अम्लों के अनेक फायदे भी हैं।

फास्ट-फूड के पार्सल में लपेटने के लिए और पेपर बोर्ड डिब्बों पर लेपों के लिए प्रयोग में लाये जाने वाले पॉलिइथलिन एवं मोम के स्थान पर इस मकई आधारित **प्रोटीन बहुलक विलेपों** का विकास किया गया है। ये नये विलेप नमी एवं चिकनाई को बाहर आने से रोकते हैं।

एक और दिलचस्प बात यह है कि गेहूं से बनी **खाने लायक थाली**। भविष्य में रेस्तरां में भोजन करने वाले न केवल अपने भोजन का ही आर्डर देंगे बल्कि अपनी थालियों के विशेष ज़ायका या स्वाद का भी।

वनस्पति तेलों के औद्योगिक उपयोग :

वनस्पति तेलों के उपयोग दिन-ब-दिन बढ़ते जा रहे हैं और ये कई उत्पादों के नवीन क्षेत्रों में पेट्रो-रसायनों का स्थान लेने लगे हैं। विशेष रूप से (लुब्रिकेंट) चिकनाई, समाचार-पत्रों की स्याही, पेंट्स और विलेय तथा डीज़ल ईंधन आदि उदाहरण हैं।

नवीकरण योग्य कृषि पण्यों से प्राप्त होने के अलावा इन उत्पादों के विशेष गुण या लक्षण होते हैं और ये पर्यावरण-अनुकूल भी हैं। उदाहरण इस प्रकार है—

*लूबगार्ड कटिंग ऑयल-पारम्परिक क्लोरिनीकृत कटिंग ऑयल का एक विशेष विकल्प है। यह कम सांद्रण में या पतला होने के बावजूद प्रभावकारी ढंग से कार्य करता है और यह सम्पूर्ण रूप से पर्यावरण-अनुकूल है। इसके प्रयोग के बाद आने वाला रद्दी तेल नुकसानदेयी नहीं है। कटिंग मशीन अधिक समय तक काम करेंगे और कटे हुए भागों के उपरीतल साफ और मृदु होते हैं।

*सोयाबीन तेल से बनाए गए काले या अन्य रंगों में बनाई गई मुद्रण स्याहियां उच्चकोटि की होती हैं और इनका प्रयोग दैनिक तथा साप्ताहिक समाचार पत्रों में किया जा सकता है। इनका प्रयोग करते समय वाष्पशील कार्बनिक रसायन इन स्याहियों से नहीं निकलते हैं। ये प्रदूषण रहित होते हैं।

*इसी तरह वनस्पति तेलों से बनाए गए सतह लेप भी उच्चकोटि के सिद्ध हुए हैं।

ईंधन :

ट्राक्टर, व्यापारिक ट्रक, रेल-सड़क इंजिन, बार्जों और मिलिटरी वाहनों में प्रयोग करने के लिए पेट्रोलियम डीजल ईंधनों के स्थान पर जैव-डीजल (*Bio diesels*) का उपयोग होने लगा है और इसकी ओर सभी का ध्यान आकर्षित हो रहा है। इनमें सल्फर बहुत कम मात्रा में है और दोहन के समय बहुत कम मात्रा में कण बाहर आते हैं।

कृषि सम्बन्धी कच्चे माल से अनेक उत्पादों को बनाने की कई संभावनाएं हैं और उनकी ओर लोगों का आकर्षण दिन-ब-दिन बढ़ता जा रहा है।

भारतीय बाजार में एक और महत्वपूर्ण क्षेत्र पहले ही मौजूद है वह है खाद्य-पदार्थ उद्योग (*Food-Industry*) जिसमें अनेक प्रकार के इंस्टेंट (*instant*) उत्पाद दिन-प्रतिदिन बढ़ते जा रहे हैं। रक्षा अनुसंधान विकास संगठन (डी आर डी ओ) द्वारा विकसित कई ऐसे इंस्टेंट उत्पाद हैं, जिसे पहले दूरस्थ क्षेत्रों में रहने वाले सैनिकों के उपयोग या लाभ के लिए विकसित किया गया था। आज उन्हें व्यापारीकरण के लिए उपयोग में लाया जा रहा है। इनमें से इंस्टेंट दाल एक है, यह उत्पाद सच्चे अर्थों में इंस्टेंट है यानि परोसने के लिए तैयार है। इसमें सिर्फ गरम पानी मिलाइये और परोसिये। इस डिब्बे को 18 महीने कमरे के तापमान में रख सकते हैं।

इसी तरह 'स्पिरुलिना' नामक शैवल का प्रयोग विभिन्न प्रकार के ज़ायकों के महत्वपूर्ण अर्क या निचोड़ों (सार) को उपयोग में लाया जाता है। इसका प्रयोग फल एवं शाक-सब्जियों को डिब्बों में सुरक्षित रखने के लिए और स्वास्थ्य बनाए रखने के लिए विभिन्न रूपों में उपयोग में लिया जाता है।

औषध उद्योग-दो दशकों की तटस्थता के बाद सम्पूर्ण विश्व ने यह बात जान ली है कि औषध के पारम्परिक प्रणालियां ही नई दवाइयों के अच्छे स्रोत साबित हो सकते हैं। कई अमरीकी और यूरोपियों द्वारा भारत सहित अनेक विकासशील देशों में औषधीय पौधों की खोज की जा रही है। भारत में पहले से कई औषधीय पौधे उपलब्ध हैं और आज इन पौधों को सूक्ष्म रूप से उगाने (*Micro propagation*) के नये तकनीक और पौधों के विविध भागों से अर्क निकालने के सक्रिय सिद्धांत भी विकसित किये गये हैं। पिछले पांच-छ: सालों से जड़ी-बूटी उत्पादों के प्रयोग के प्रति विशेष लगाव एवं प्रगति दिखाई देने लगी है और साथ में इन

उत्पादों में वृद्धि भी होने लगी है। जड़ी-बूटी आधारित कई सौंदर्य प्रसाधन, शैम्पों और बालों के तेल आदि पहले ही बाजार में उपलब्ध हैं। औषधीय एवं सुगंधित पौधों तथा जड़ी-बूटियों के उत्पादों के क्षेत्रों में असीमित अवसर प्राप्त हैं।

मानव-क्रियाकलापों का ऐसा कोई क्षेत्र नहीं रहा होगा जिसे जैव-प्रौद्योगिकी ने प्रभावकारी ढ़ंग से न छुआ होगा। चिकित्सा एवं कृषि उद्योग के विभिन्न क्षेत्रों में वह क्रांतिकारी परिवर्तन ले आएगा। रासायनिक प्रौद्योगिकी ने जो चार दशकों में प्राप्त किया है उसे जैव-प्रौद्योगिकी ने चार दशकों से भी कम समय में प्राप्त किया।

मानव इन्स्यूलिन के लिए आनुवंशिक-इंजीनियरिंग द्वारा विकसित प्रौद्योगिकियां, अनेक प्रकार के प्रोटीन, जिन्हें दु:साध्य रूप से रक्त का जम जाना आदि की चिकित्सा में रोग-निवारक की तरह विस्तृत रूप में प्रयोग में लाया जाता है। दिल के दौरों को कम और रक्त चाप को नियंत्रित करने वाली दवाइयां आदि कुछ उदाहरण हैं। इनके अतिरिक्त मछली के वज़न को बढ़ाने के लिए और औद्योगिक उत्प्रेरण में प्रयोग में लाये जाने वाले प्रोटीन बढ़ाने वाले प्लाज्मा आदि भी आने वाले हैं। अकार्बनिक उत्प्रेरण में यह प्लाज्मा विस्तृत उपयोगी पाया गया है।

किण्वन, मांस को मुलायम बनाने, पनीर बनाने और चर्मशोधन में पहले से ही एंजाइमों का प्रयोग किया जाता है। उत्प्रेरकों के रूप में कार्य करने वाले एंजाइम का एक और क्षेत्र है जिसमें उसके लिए असंख्य अवसर हैं।

मोनोक्लोनल एंटीबाडीस (*MCBS*) के प्रयोग ने कई बीमारियों के लिए नैदानिक किट (*Diagnostic kits*) बनाना आसान बना दिया है। इस किट की बाजार में इतनी मांग है कि इसके लिए दो बिलियन डालरों के आर्डर आए हैं।

आनुवंशिक कारकों से उत्पन्न लगभग 4000 बीमारियां अब तक जानकारी में आई हैं। इन्हें पहचानने और कुछ रोगों के प्रति प्रत्येक व्यक्ति को होने वाले खतरे को जानने के लिए आनुवंशिक जांचों का विकास किया गया है। 1000 लीटर पानी में अगर दस वाइरस भी हों तो ये अत्यधिक संवेदनशील तकनीक उन्हें पहचान सकेंगी। ये तकनीकें चिकित्सा पद्धतियों में विस्तृत परिवर्तन लाएंगी।

अंकुर प्लैज्म आदि में स्ट्रेइन्स के सूचीपत्र बनाने के लिए कृषि विज्ञान में विधि-विज्ञान के पैतृक/मातृत्व सम्बन्धी विवादों में डी एन ए फिंगर प्रिंटिंग (*DNA Finger Printing*) तकनीक का पहले से ही प्रयोग किया जा रहा है। उद्यान और पादप संरक्षण में व्यापारीकरण के लिए आनुवंशिक हेर-फेर के कई प्रकार के तकनीक पहले ही उपयोग किये जा रहे हैं। उदाहरण के लिए तम्बाकू के पौधों को कीट प्रतिरोधी बनाने के लिए उनमें बासिल्लस टी के कीटनाशीय क्रियाकलापों को नियंत्रित करने वाले जीन (*gene*) को डालने की तकनीक का विकास किया गया है। टमाटरों में हिमपात से होने वाली क्षति के लिए कारणात्मक "जीन" (*gene*) को पहचान कर उसको नष्ट कर देने की तकनीक का विकास किया गया है। इसी की सहायता से, हिमपात से होने वाली क्षति को रोकने वाली जीन का विकास भी किया गया है।

जैव-प्रौद्योगिकी विकास से लाभान्वित हुए कई क्षेत्र हैं। इनमें सूक्ष्म जीवियों द्वारा कम सांद्रण के कच्चे धातुओं का सूक्ष्म जैविक रूप से निक्षालन करना भी शामिल है। इस पद्धति में उपयोग में लाये जाने वाले सूक्ष्म जीव अपने सम्पूर्ण क्षमता से भी 30-40 प्रतिशत अधिक मात्रा में "भारी धातु" (*heavy metals*) और न्यूक्लिआई का संचयन करते हैं। स्ट्रेइन्स (*Strains*) का प्रयोग करने वाले प्रदूषण नियंत्रण सिद्धांत डयाक्सिन पी.सी.बी. आदि जैसे संश्लेषणों का, निम्नीकरण कर सकते हैं और प्लास्टिक को भी हानि रहित पदार्थों के रूप में निम्नीकरण करते हैं।

कम्प्यूटर कुछ वर्ष पूर्व केवल "हां, नहीं" सिद्धांत पर कार्य कर रहे थे। आज "फज्जी लॉजिक" (*Fuzzy logic*) नाम से एक नया सॉफ्टवेयर का विकास किया गया है जो "शायद हो सकता है" को अपने साथ लिये चलता है। इस कम्प्यूटर के उपयोगों में रेल गाड़ियों में चालू होते या रोकते समय किसी भी प्रकार का झटका नहीं लगना और स्वचालित संप्रेषण जो बिना किसी आवाज़ के एक चैनेल से दूसरे चैनेल को बदलना आदि शामिल है।

उन्नत विशेषज्ञ प्रणालियों के प्रयोग द्वारा प्रत्येक व्यक्ति विशेषज्ञों के दल से एक साथ परामर्श कर सकता है और उनके साथ एक विशेष समस्या पर विचार-विमर्श भी कर सकता है। ये सॉफ्टवेयर कार्यक्रम विशेषज्ञ दल के निर्णयों को नियमों के रूप में परिवर्तित करते हैं और इन्हीं नियमों का उस समस्या के हल के लिए उपयोग करता है। इन्हें प्रबंधन में निर्णय लेने में सहयोग देने वाले उपकरण और प्रशिक्षण एवं लेखा में भी उपयोग किया जा सकता है।

इसी तरह सॉफ्टवेयर कार्यक्रमों में सत्य का आभास दिलाने वाले उन्नत कार्यक्रम (*Advance Simulations*) हैं जो 2-डी, 3-डी तथा आभास को पूर्णरूप से सत्य के रूप में

दर्शाने की संभाव्यता रखने वाले कार्यक्रम बनाते हैं। इसके उपयोग में मुख्य रूप से मनोरंजन, शिक्षा एवं प्रशिक्षण शामिल हैं।

पेरेलल प्रक्रम तकनीकों का प्रयोग कर बनाए गए सुपर कम्प्यूटर पहले से ही प्रचलित हैं। सुपर कम्प्यूटिंग में प्रमुख प्रौद्योगिकी परिवर्तन आया है जो वेक्टर प्रक्रम से आपस में मेमोरी बांटने वाले प्रक्रम (एस एम पी) के रूप में परिवर्तित हो गई है। यह प्रक्रम छोटा और कम लागत का है। यह व्यापार प्रक्रम परिषद् (*Transaction Processing Council*) द्वारा दी गई हाल ही की सूचना है। यह परिषद् एक प्राथमिक निकाय है जो ऑन-लाइन व्यापार प्रक्रम और क्लाइंट सरवरों के लिए प्रणालियों की कीमत और कार्य-निष्पादन का क्रम-निर्धारण करने की एक प्राथमिक निकाय है। इस परिवर्तन के कारण नवीन टी.पी.सी. (*TPC*) के अनुसार 6313.78 व्यापार प्रतिमिनट का "सी" बेंचमार्क का रिकार्ड है या पिछली 3534.20 की उन्नति से भी 79 प्रतिशत की वृद्धि हुई है। पुरानी प्रणाली के लिए 495 डॉलर से नवीन प्रणाली के लिए 481 डॉलर प्रति व्यापार प्रति मिनट के हिसाब से प्रक्रम लागत (हार्डवेयर एवं साफ्टवेयर दोनों सहित) में कमी आई है।

मल्टी-मीडिया कम्प्यूटर में टेलिविज़न की दृश्य-श्रव्य (*Audio Visual Power*) सुविधाएं शामिल हैं। इतना ही नहीं इसमें प्रिंटिंग प्रेस की मुद्रण और कम्प्यूटर की आपस में वार्तालाप करने की सुविधा भी मौजूद है। बाज़ार में आए तेज़ बदलावों के मद्देनज़र व्यापार को अपने कर्मचारियों के पुन:प्रशिक्षण पर ध्यान देने की ज़रूरत है। इन प्रशिक्षणों के लिए मल्टी-मीडिया को एक उपकरण के रूप में संगठन उपयोग करते हैं। जब कभी नये ज्ञान की जानकारी की आवश्यकता पड़े तो कर्मचारी इसी उपकरण का प्रयोग कर आभासी कक्षा में ज्ञान प्राप्त करेंगे।

इलेक्ट्रॉनिक नोटपैड एक और विकसित प्रभावकारी सामान्य औज़ार है जो पेननुमा, हाथ में पकड़ने योग्य, कम्प्यूटर है। यह एक क्रांतिकारी आविष्कार है क्योंकि ऑर्डर लेना, सामग्री-सूची की जांच-पड़ताल और बिक्री प्रक्रम जैसे कार्य-स्थलों में ही इस उपकरण को लिया जा सकता है और डाटा प्राप्त किया जा सकता है।

ऑप्टिकल डाटा स्टोरेज सिस्टम में काम्पाक्ट डिस्क संगीत की दुनिया में ऐसा जाना माना माध्यम है जिसका ज्यादा चयन किया जाता है। सीडी-रैम (*RAM*) भी प्रयोग के लिए पहले से ही तैयार है और वे पठन पुस्तकें और संदर्भ सामग्री आदि के मैनुअल के स्थान पर प्रयोग होने लगे हैं।

विकसित काम्पाक्ट डिस्कों में सी डी-*I* (*I*-वार्तालाप के लिये) जो शिक्षण में प्रशिक्षण और मनोरंजन के लिए उपयोग में आता है तथा सी डी-आर (आर-रिकार्ड के योग्य) डाटा-स्टोरेज के लिए प्रयोग किया जाता है। उसी तरह फोटो-सी डी का भी विकास किया गया है।

उद्योग और व्यापारिक फर्मों द्वारा प्रवर्तनकारी सामग्री के रूप में वीडियो को अपने उत्पादन के प्रदर्शन के लिए उपयोग करना एक आम बात हो गई है। फ्लाट पेनल डिस्पले की परिकल्पना करने वाले विकसित वीडियो डिस्प्ले का विकास हो चुका है जिसमें अनेक परिमाणों में भार रहित सपाट या समतल टी वी स्क्रीन है। घरों में टेलिविज़न देखने के अलावा इन्हें विज्ञापन एवं प्रोत्साहन के लिए नवीन डिस्प्ले माध्यम के रूप में भी प्रयोग किया जा सकता है।

हम "रोबोटिक" काल में हैं। खतरनाक प्रक्रमों विकसित देशों में पहले से ही और ऐसे प्रक्रम, जहां थोड़ी सी भी अशुद्धता गंवारा नहीं, के संचालन में रोबो का प्रयोग किया जा रहा है। भारतीय रक्षा-दल वैज्ञानिकों ने "रोबो-सैनिक" का विकास किया है। त्रिविम दृष्टि से युक्त यह पहला बुद्धिशाली रोबो है। जैसे मानव अपने रास्ते में आने वाले अवरोधों को हटाकर संचालन करता है उसी तरह यह भी अपने आप संचालन कर सकता है।

एक रोबो जो खत लिखता है और दूसरा टेबुल-टेनिस खेल सकता है, का विकास हुआ है। इनमें कुछ सुधार लाकर इन्हें खानों की सफाई और गुप्त कमांडो आपरेशनों में उपयोग किया जा सकता है। इन्हें स्वचालित मार्गदर्शन देने वाले वाहनों के रूप में दुकानों पर आम जनता की मदद के लिए इस्तेमाल किया जा सकता है।

अल्ट्रासैनिक परीक्षा सहित जांच-पड़ताल करने वाला "गान्ट्री रोबो" (*Gantry Robot*) का भी विकास किया है। भारतीय हल्के युद्ध विमान के पूर्णरूप से बनाए गए पंखों में अगर कुछ कमी रही तो उसका पता लगाने के लिए इस गान्ट्री रोबो का प्रयोग किया जाता है। हल्के युद्ध विमान के पंखों की लम्बाई 7 मीटर और चौड़ाई अत्यधिक रूप से 5 मीटर की होती है। गान्ट्री रोबो इस पूरे पंख के उपरि तल का परीक्षण कम समय में सही-सही 100 मइक्रानस कर सकता है। इन पंखों का परीक्षण बाहर कहीं करवाने के लिए विदेशी मुद्रा में अनेक हजार डॉलरों का खर्च होता था। □□

विज्ञान, प्रौद्योगिकी और शिक्षा माध्यम

□ प्रेमानन्द चन्दोला

बुद्धिमान मानव के समग्र मौलिक चिंतन के दो प्रेरणा कारक रहे हैं—कल्पना और जिज्ञासा । इनमें से कल्पना से उपजा साहित्य और जिज्ञासा से उपजा विज्ञान। विज्ञान का 'वि' उपसर्ग ज्ञान की विशिष्टता का द्योतक है और साधारण ज्ञान से पृथक् विशिष्ट ज्ञान है। विज्ञान के सामने कोई समस्या आई नहीं कि वह उसके 'क्यों और कैसे' का हल खोज निकालने में लग जाता है। विज्ञान में हर समस्या, क्रिया व परिघटना का प्रयोगों के आधार पर परीक्षण किया जाता है और क्रमबद्ध प्राविधिक प्रेक्षणों के बाद सिद्ध करके सही निष्कर्ष निकाला जाता है। जो बातें सत्यता की कसौटी पर खरी उतरती हैं वे ही सामान्य सिद्धांतों के रूप में मान्य हो पाती हैं। सार रूप में यूं भी कह सकते हैं कि विज्ञान सत्यान्वेषी होता है कि सत्य का साक्षात् स्वरूप होता है। जो असत्य है वह विज्ञान नहीं।

युग, दशा, पर्यावरण और समाज के बदलाव तथा परिस्थितिजन्य जिज्ञासाओं व आवश्यकताओं के अनुरूप समय के परिवर्तनों का परावर्तन और संकल्पनाओं, विचारों तथा अनुभूतियों की अभिव्यक्ति होती है। यह प्रकृति का शाश्वत नियम है। सच्चा जीवन प्रगतिपरक होता है। परंतु इस प्रगति का कारक है विज्ञान। वस्तुत: प्रगति विज्ञान की अनुगामिनी है। अत: कह सकते हैं कि 'विज्ञान समाज का रूपकार है' क्योंकि विज्ञान ही समाज की यथार्थता का सूचक होता है, जो अपनी सक्रियता से समाज का कायांतरण करता है।

विज्ञान और प्रौद्योगिकी में थोड़ा ही अंतर है। प्रौद्योगिकी भी विज्ञान है किंतु यह अनुपयुक्त विज्ञान है, जिसके अंतर्गत क्रियात्मक शिल्प, कौशल और आधुनिक युक्तियां आती हैं। यह विज्ञान का व्यावहारिक विस्तार है जो समाज को यंत्र, उपकरण तथा उपस्कर संबंधी जीवनोपयोगी सुविधाएं प्रदान करता है। आए दिन हम इनका उपभोग कर रहे हैं। देश के विकास में विज्ञान और प्रौद्योगिकी की बहुत बड़ी भूमिका रही है बिना इनके राष्ट्र भौतिक, औद्योगिक और प्रौद्योगिक प्रगति नहीं कर सकता है। वैज्ञानिक उन्नति के अभाव में मानव आज भी प्रगतिशून्य आदिम अवस्था में ही बना रहता। विज्ञान व प्रौद्योगिकी देश को अनेक आयामों से आत्मनिर्भर व खुशहाल बनाते हैं और तभी देश समय के साथ कदम ताल मिला कर चल सकता है आज जो भी ऐश-आराम की मदें हमें हासिल हुई हैं वे सभी विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी की देन हैं। बिना इनके हम दुनिया के देशों के साथ कदम मिला कर नहीं चल सकते। वैज्ञानिक खोजों से ही विवेचनात्मक भावना, सत्यान्वेषण की क्षमता, और व्यापक दृष्टिकोण को बढ़ावा मिलता है। लेकिन उत्तम होगा यदि वैज्ञानिक अनुशासन के साथ मानववादी संकल्प, संतुलन और विवेक भी संबद्ध रहें क्योंकि विज्ञान और प्रौद्योगिकी ने एक ओर जहां हमें ढेर सारी आमोद-प्रमोद की सुविधाएं दी हैं वहीं दूसरी ओर मशीन गनों, बमों और नाभिकीय अस्त्रों की विनाशकारी युक्तियां भी दी हैं।

दुनिया की महाशक्तियों के नाभिकीय अस्त्रों से भरे जखीरों से इस दुनिया को एक बार नहीं कई बार नष्ट-भ्रष्ट किया जा सकता है। आनुवंशिक इंजीनियरी की प्रगति के प्रत्येक चरण के साथ जैविक युद्ध-कौशल उत्तरोत्तर प्रत्यक्ष संभावित खतरे की ओर बढ़ रहा है। जैव प्रौद्योगिकी को आज विभिन्न प्रकार के उद्योगों में प्रयुक्त किया जा रहा है, जिसमें भैषजिक उद्योग, खाद्य संसाधन उद्योग, पादप उत्पादन उद्योग तथा पर्यावरण प्रबंधन आदि सम्मिलित हैं। लेकिन इसका प्रयोग नियमनकारी और मर्यादित ढांचे में ही होना चाहिए ताकि इसके प्रक्रमों और इससे उत्पन्न उत्पादों का निरापद उपयोग हो।

निरंतर तीव्र औद्योगिक क्रियाशीलता से उत्पन्न ग्रीन हाउस तापन भी भविष्य में घातक हो सकता है। ओजोन की परत का क्षय करने वाले रसायनों और गैसों का उत्पादन भी सहगामी विपदा है। सार्वभौम तापन, ओजोन परत की क्षति, रसायनों द्वारा वायु, भूमि और जल का विषाक्तन तथा वर्षा-वनों, प्रवाल-भित्तियों और आर्द्र भूमि सरीखे आवासों का विनाश आदि बातें पर्यावरण पात का कारण बन सकती हैं।

हमें विज्ञान और प्रौद्योगिकी की धनात्मक या रचनात्मक दिशा की ओर ही प्रवृत्त होना होगा और ऋणात्मक या विनाशात्मक दिशा की ओर न मुड़ने के लिए हमें अपने व्यक्तित्त्व को संयमित, विवेकपूर्ण और मर्यादित रूप से ढालना होगा। विज्ञान और प्रौद्योगिकी की कुलांचे मारती प्रगति दुनिया के वैज्ञानिकों, चिंतकों,

ई-साकेत, एम.आई.जी. फ्लैट, नई दिल्ली

विभूतियों और प्रौद्योगिकी विदों के सामूहिक प्रयास का प्रतिफल है। क्षेत्र, देश, जाति, भाषा, धर्म आदि की सीमाएं विज्ञान को नहीं बांध सकतीं। मानव के लंबे इतिहास में कई उथल-पुथल हुई हैं। विज्ञान और अनुप्रयुक्त विज्ञान की उपलब्धियों ने हमारे रहन-सहन का ढंग ही बदल डाला लेकिन मानव द्वारा पर्यावरण के विदोहन से खुद उसके लिए खतरा पैदा हो गया है। हमें इसे याद रखना होगा।

हमारे सुदीर्घ इतिहास में विज्ञान और प्रौद्योगिकी मानव सभ्यता की उपलब्धियों के उल्लेखनीय विभेदक आयाम रहे हैं। वस्तुत: बुद्धिप्रसूत विज्ञान के क्रमिक सोपानों पर मानव शनै: शनै: अधिक सभ्य, खोजी और प्रबुद्ध होता गया। अरण्यों की आदिम अवस्था से लेकर आज की अनंत अंतिरक्ष की विजय, सुपर कंप्यूटर और अति चालकता वाली सुविकसित अवस्था तक मानव ने जितनी चमत्कारी प्रगति की है, वह अपने में एक बड़ी मिसाल है। आज विज्ञान और प्रौद्योगिकी की किस-किस उपलब्धि को गिनाएं। प्रागैतिहासिक काल से लेकर आधुनिक काल तक मानव की प्रगति-यात्रा से जितने भी पड़ाव जुड़े हैं वे निस्संदेह अचरज भरे रहे हैं। आज इस छोर से उस छोर तक देखने पर वे अविश्वसनीय लगते हैं।

अनायास और अकस्मात चकमक पत्थर से आग की खोज और फिर पहिए का आविष्कार मानव की आरंभिक उन्नति के मील के पत्थर रहे हैं। तब से मानव ने पीछे मुड़कर नहीं देखा और वह अपनी बुद्धि, खोजों, ताबड़तोड़ प्रयासों और आत्मविश्वास के बल पर आगे और आगे ही बढ़ता गया। तभी तो विकसित आधुनिक मानव यानी **होमों सैपिएन्स** को 'विसडम मैन' या 'बुद्धिमान मानव' की संज्ञा दी गई है। कितना सटीक नाम दिया गया करामाती मानव को। सच, इसके अलावा उसका और कोई नामकरण हो भी नहीं सकता था और अगर होता भी तो वह बेमानी होता।

विज्ञान के क्षेत्र में उत्तरोत्तर उल्लेखनीय खोजें और आविष्कार हुए। इन खोजों की शृंखला में मोटे तौर पर रेखांकित करने योग्य महत्वपूर्ण बिंदू रहे हैं—रसायन के क्षेत्र में **परमाणु** (ऐटम), जीवविज्ञान के क्षेत्र में **कोशिका** (स्येल) और भौतिकी के क्षेत्र में **क्वांटम** की खोज। निस्संदेह ये मुख्य रूप से गिनाने लायक और स्मरणीय मूलभूत खोजें रही हैं।

विज्ञान एक व्यापक शब्द है जिसमें भौतिक विज्ञान, इंजीनियरी, रसायन, प्रौद्योगिकी, जीवविज्ञान, कृषि, मनोविज्ञान, समाजविज्ञान, राजनीतिविज्ञान, उद्योग वगैरह सभी आ जाते हैं। आधुनिकता की प्रमुख विशेषता वैज्ञानिकता है। आज सभी विषयों और बातों के प्रति हमारे दृष्टिकोण में जो बदलाव आया है, उसका कारण हमारा वैज्ञानिक होना है यानी संपूर्ण लोक में वैज्ञानिकता की व्याप्ति। दोहरा दें कि विज्ञान और प्रौद्योगिकी का समन्वय ही आज की आधुनिकता है।

वैज्ञानिक प्रगति के कुछ प्ररूप इतने प्रभावशाली रहे है कि उन प्रगतियों को 'क्रांति' कहा गया। इस दृष्टिकोण से देखें तो समग्र इतिहास में ये तीन क्रांतियां हुईं—(1) कृषि क्रांति, जिसमें कंद-मूल-फल बटोरने वाले तथा शिकारी मानव ने गोबर में गिरते बीजों के अंकुरण को देखकर कृषि कार्य की शुरूआत की। (2) औद्योगिक क्रांति, जिसमें मानव ने अपना कार्य मशीनों से लेना शुरू किया, और (3) साइबर्नेटिक क्रांति, जब मानव ने दूर से ही मशीनों यंत्रों को नियंत्रित करने की क्षमता अर्जित की और कंप्यूटर युग में प्रवेश किया।

अठारहवीं सदी में मानव जीवन को प्रभावित करने वाली सबसे महत्वपूर्ण घटना रही है—औद्योगिक क्रांति यानी 'कल युग' का आरंभ। औद्योगिक क्रांति के परिणामस्वरूप कल, मशीनों या यंत्रों का इतना व्यापक इस्तेमाल होने लगा कि ये मानव के अभिन्न साथी बन गए। औद्योगिक क्रांति का आरंभ अठारहवीं सदी के मध्य के वर्ष माने जाते हैं। इसका आरंभ इंग्लैंड में हुआ और इसके कारण वह विश्व का सबसे प्रमुख देश बन गया। वैसे अन्य यूरोपीय देशों में इस क्रांति की लहर सदी के अंत तक और एशियाई देशों में अगली सदी के आरंभ में ही पहुंच पाई। फिर अन्य मशीनों, भाप-इंजनों, रेल-इंजनों वगैरह का ईज़ाद हुआ जो समाज के लिए प्रासंगिक और बहुत महत्वपूर्ण रहे हैं।

दूसरी औद्योगिक क्रांति की शुरूआत हम लगभग 1900 ई. से मान सकते हैं, जब बिजली तथा पेट्रोल के इंजन के नए शक्ति-तंत्रों का सामान्य प्रयोग होने लगा। हलके इंजनों का प्रभाव जल्दी ही नजर आने लगा। मोटर द्वारा सड़कों पर यात्रा शुरू हो गई और पहले पहल हवा से भारी मशीन द्वारा आसमान में उड़ना संभव हो गया।

युद्ध चलते रहे, बस्तियां बढ़ती रहीं और यंत्रीकरण, उद्योगीकरण तथा नगरीकरण में निरंतर विकास होता रहा। साथ ही आधुनिक नाम का पूंजीभूत समाज भी विकसित हुआ। दूर-संचार तंत्र स्थापित हो गया और उसने वाणिज्यिक-राजनीतिक संवाद-वहन का कार्य देश-विदेश में द्रुततर कर दिया। एक स्थान से दूसरे स्थान तक गमनागमन द्रुततर होकर अधिक प्रचलन में आ गया। लोग पहले की अपेक्षा अधिक सचल हो गए। इस तरह धीरे-धीरे समय की गति पर चलचित्र तथा रेडियो के आविष्कारों द्वारा मनोरंजन, शिक्षा तथा संस्कृति के कार्यकलाप लोकप्रिय हो गए। भौतिक विज्ञानों और युद्ध तथा शांति की प्रौद्योगिकी का प्रयोग सुस्पष्ट परिलक्षित होता गया। टर्बो जेट इंजन विकसित हुए और परमाणु-ऊर्जा की प्राप्ति हुई। इस तरह शक्ति-संयंत्रों से एक नई क्रांति आ गई।

आज टेलीविजन, उपग्रह सेवा, टेलेक्स, फैक्स, एस. टी. डी., टेलीप्रिंटर, आई. एस. डी., फोटोस्टेट आदि मशीनों की छोटे-छोटे कस्बों की गलियों में भरमार है। यह सब विज्ञान और प्रौद्योगिकी का चमत्कार है। पेजर, सेलुलर फोन, इंटरनेट, ई. मेल भी नई चीजें नहीं रहीं। लेकिन जो प्रौद्योगिकी के बूते पर ही हमें मयस्सर हुई हैं। लेसर-मुद्रण और लेसर किरणों से ऑपरेशन तथा आज की निर्भय बाइपास सर्जरी आदि भी आधुनिक प्रौद्योगिकी के चमत्कार हैं।

मातृ-भाषा द्वारा विज्ञान और प्रौद्योगिकी की शिक्षा

कोई भी लेख, आलेख या परचा हो उसके लेखक या प्रस्तुतकर्ता की नैतिक जिम्मेदारी है कि वह संबद्ध लोगों को मानवीय महत्व की बातों के यथार्थ को बतलाने का प्रयास करे। तभी उसकी सार्थकता है। किसी भी विषय के प्रचार-प्रसार के लिए उसका शिक्षण-प्रशिक्षण आवश्यक है, और इससे भी अधिक जरूरी है वह माध्यम जिसके द्वारा शिक्षा दी जा रही है। पूरे देश में विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी की शिक्षा के संदर्भ में हमें देश की अपनी भाषाओं के बारे में सोचना होगा, यानी हर राज्य अथवा क्षेत्र की अपनी मातृभाषा के बारे में।

सामान्य शिक्षा विशेष रूप से उच्च शिक्षा, सामाजिक परिवर्तन तथा राष्ट्रीय विकास का महत्वपूर्ण उपकरण है। राष्ट्रीय विकास में शिक्षा का योगदान मुख्यतया पाठ्य-सामग्री की गुणता, शिक्षा माध्यम तथा शिक्षक की प्रतिभा पर निर्भर करता है। शिक्षा की बात करते हुए इस बिंदु पर बल देना होगा कि वास्तविक शिक्षा त्रिआयामी होती है और इसके द्वारा शरीर, मस्तिष्क तथा आत्मा की आवश्यकताओं की पूर्ति होना आवश्यक है। लेकिन दुख के साथ कहना पड़ता है कि 'आत्मा की संस्कृति' वाला जो तीसरा आयाम है उसका हमारे शैक्षिक तंत्र में अभाव है। इस आयाम पर हमें विशेष ध्यान देना होगा, जो पूर्व की, भारत की प्राचीन पारंपरिक विशेषता रही है।

दुनिया के सभी शिक्षाविदों और विशेषज्ञों का मानना है कि सीखने, मौलिक चिंतन और अभिव्यक्ति हेतु अपनी भाषा या मातृभाषा का उपयोग परम आवश्यक है। शिक्षण निम्न स्तर का हो अथवा उच्च स्तर का, उसके माध्यम के रूप में मातृभाषा का ही औचित्य है। मातृभाषा की महत्ता को परखते हुए विद्या-विशेषज्ञों का कहना है कि शिक्षा के संदर्भ में संप्रेषणीयता, सुबोधता, ग्राह्यता, विचारशीलता तथा अभिव्यक्ति के लिए मातृभाषा वांछनीय और व्यावहारिक है। मातृभाषा में नैसर्गिक मातृ संस्कारों तथा अपनी भूमि की माटी की गंध होती है।

शिशु के जीवन का प्रारंभ मां के गर्भ से होता है और यहीं उसका भ्रूणीय परिवर्धन भी होता है। शिशु में संस्कारों तथा शिक्षा का सूत्रपात भी माता के गर्भ से होता है। फिर माता की गोदी शिशु के प्रारंभिक गुरूकुल का स्थान ले लेती है। गोदी, पालने, बिछौने में खिलाते, दूध पिलाते, दुलराते, सुलाते समय माता अपनी मुधर वाणी में शिशु को नए-नए पाठ पढ़ाती है। बच्चा सबसे पहले माता की भाव भंगिमाओं, संकेतों, ध्वनियों और भाषा के संपर्क में आता है। इसीलिए मां की भाषा की अतीव महत्ता है। माता की वाणी बच्चे के शरीर के क्रियाविज्ञान में रच-बस कर और अंकित होकर उसे शिक्षित करती है। माता ही बच्चे की प्रथम गुरू है और पिता, दादा तथा पाठशाला के गुरूओं का स्थान माता के बहुत बाद है। यह वैज्ञानिक तथा मनोवैज्ञानिक सत्य है।

शिक्षा का परम उद्देश्य व्यष्टि और समष्टि के व्यक्तित्व का विकास है। व्यक्तित्व पर्यावरण से प्रभावित होता है जिसमें घर तथा शिक्षालय सभी आ जाते हैं। जीवन की संपूर्ण जीवनचर्या को यदि एक शब्द में अभिव्यक्त किया जाए तो वह शब्द है संस्कृति। संस्कृति में प्राचीन-अर्वाचीन परंपराएं तथा विविध कार्यकलाप गड्ड-मड्ड होते हैं। यूं तो संस्कृति का आशय कई संकल्पनाओं से है लेकिन शिक्षा के प्रसंग में इसका अर्थ उच्च बौद्धिक व कलात्मक उत्कृष्टता और अपनी भाषाओं, समाज तथा देश के प्रति उदात्त प्रेम से भी है।

क्या बिडंबना है कि अपनी मातृ भाषाओं को भूलकर हम विदेशी भाषा अंग्रेजी के मोह में फंसे हुए हैं। मैकाले की शिक्षा का छद्म जाल हमारी भूमि, संस्कृति और दिल-दिमाग पर छा गया। आज हम अंग्रेजों के गुलाम नहीं पर अंग्रेजी के गुलाम बने हुए हैं। हमने अपने उस गौरवशाली अतीत को भुला दिया है जब विदेशों के छात्र और विद्वान हमारी भाषाओं के माध्यम से नालंदा तथा तक्षशिला विश्वविद्यालयों में अध्ययन के लिए आते थे। अत: आज आवश्यकता है कि हम स्वावलंबी, जागरूक और स्वदेशाभिमानी बनकर अपनी भाषाओं को अपनाएं वरना हमारे सारे शैक्षिक कार्याकलाप बेमानी कहे जाएंगे।

मातृभाषा शिक्षा-प्रक्रिया का यानी अधिगम और अभिव्यक्ति का इष्टतम साधन है। इसके माध्यम से ज्ञानार्जन में शिक्षार्थी को बहुत सरलता रहती है और वह रूचिपूर्वक कठिन-से-कठिन सामग्री को उत्साहपूर्वक समझने की चेष्टा करता है। सीखने की प्रक्रिया में महत्वपूर्ण बातें है—विषयवस्तु या पाठ्य-सामग्री की बोधगम्यता, ग्राह्यता और उसका सहज प्रकटीकरण। अपनी भाषा में यह प्रक्रिया इतनी आसान लगती है कि विद्यार्थी पर कोई जोर नहीं पड़ता और वह अपनी ही शैली में बडे मजे में उसे अभिव्यक्त कर सकता है।

विद्यार्थी पर जब अनचाहे जबर्दस्ती विदेशी भाषा थोप दी जाती है तो यदि वह विषय को ठीक से समझेगा ही नहीं तो

बताने के लिए लिखेगा क्या ? विदेशी भाषा के माध्यम से विद्यार्थी को पहले विदेशी भाषा और उसकी शब्दावली को समझना पड़ता है और फिर विषय को। विदेशी भाषा ही समझ में नहीं आएगी तो पाठ्य-सामग्री कैसे समझ में आएगी। इस तरह विदेशी भाषा का अनावश्यक और उबाऊ बोझ उस पर अतिरिक्त दबाव डालता है और ऊर्जा अपव्यय के बाद भी जब विषयवस्तु दिमाग में नहीं उतरती तो परीक्षा उत्तीर्ण करने के उद्देश्य से वह मजबूरी में उसे किसी तरह घोट लेता है। इस प्रकार उसे अप्राकृतिक और अवैज्ञानिक तोता रटंत शैली का सहारा लेना पड़ता है। परिणामस्वरूप प्रथम के बजाय वे द्वितीय कोटि के छात्र बन जाते हैं। किसी तरह कक्षा पास करने को ही वे अपना ध्येय मान बैठते हैं। मौलिक अनुसंधान करने के लिए उनमें उत्सुकता, आत्मविश्वास और मनोबल का लोप हो जाता है।

हमारे विश्वविद्यालय और वैज्ञानिक संस्थानों में यही हो रहा है। मातृभाषा से बारहवीं कक्षा पास करने के बाद अधिकांश छात्रों को अचानक स्नातक स्तर पर अंग्रेजी भाषा से पढ़ाई करनी पड़ती है। कहीं यह भी होता है कि स्नातक स्तर तक मातृभाषा में पढ़ने के बाद उन्हें स्नातकोत्तर स्तर पर एकाएक अंग्रेजी माध्यम से पढ़ना पड़ता है। कोई उनकी इस मजबूरी को महसूस नहीं करता और वे इस परेशानी की चक्की में पिसते जाते हैं। विद्यार्थी की समझने, सोचने-विचारने, विश्लेषण तथा अभिव्यक्ति की क्षमताएं विकसित न हो कर कुंठित रह जाती हैं। विदेशी भाषा की बाधा के कारण अनेक होनहार तथा मेधावी विद्यार्थी पिछड़ते जाते हैं और वे उतने सक्षम व सफल नहीं हो पाते जितना कि उन्हें अपनी मातृभाषा के माध्यम से होना चाहिए था। इस बारे में बहुत कुछ कहा जा सकता है लेकिन संक्षेप में इतना कहना पर्याप्त होगा।

वित्त मंत्रालय तथा वैज्ञानिक एवं औद्योगिक अनुसंधान परिषद् की एक परियोजना के संबंध में जानकारी मिली है कि ग्रामीण लोगों के विकास तथा उत्थान हेतु वर्तमान सरकार विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी की भूमिका में बढ़ोत्तरी कर रही है। वैज्ञानिक एवं औद्योगिक अनुसंधान परिषद् देश में स्थित अपनी चालीस प्रयोगशालाओं, राष्ट्रीय समुद्रविज्ञान संस्थान, केंद्रीय ग्रामीण विकास एककों तथा क्षेत्रीय अनुसंधान प्रयोगशालाओं के माध्यम से ग्रामीण क्षेत्र के 80 प्रतिशत लोगों के सामाजिक-आर्थिक विकास हेतु उन्हें सुदृढ़ आधार प्रदान करेगी।

विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में उत्कृष्टता अर्जन के लिए वैज्ञानिक एवं औद्योगिक अनुसंधान परिषद् को देश के अनुरूप उच्चतम कोटि की प्रौद्योगिकी विकसित करनी होगी। अन्य देशों की संकल्पना शैली के अनुकरण से बात नहीं बनेगी। इसके लिए देश के गैर-सरकारी संगठनों के सहयोग से मूल या निम्नतम स्तर पर प्रभावकारी प्रौद्योगिकी का उपयोग करना होगा। ज़ाहिर है कि इसमें संप्रेषणीयता के लिए क्षेत्रीय भाषाओं का ही इस्तेमाल किया जाएगा, जो एक शुभ लक्षण है।

इसी तारतम्य में एक अन्य सूचना से बहुत प्रसन्नता हुई है। हाल में तमिलनाडु के तमिल विकास मंत्री ने घोषणा की थी कि अगले शैक्षिक वर्ष से एक 'तमिल माध्यम वाला इंजीनियरी कॉलेज' आरंभ किया जाएगा। उन्होंने यह भी बताया कि पहले दो वर्षों के लिए इस निमित्त तमिल पाठ्य पुस्तकें भी तैयार कर ली गई हैं। तीन बैचों में लगभग 90 विद्यार्थियों के दाखिले की व्यवस्था है।

आगामी वर्षों में उन छात्रों के उज्जवल भविष्य के लिए 'इंजीनियरी प्रवेश परीक्षा' भी केवल तमिल माध्यम से व्यवस्थित की जाएगी जिन्होंने बारहवीं कक्षा तमिल माध्यम से उत्तीर्ण की हो तथा जो तमिल माध्यम में रूचि रखते हों। इस दिशा में यह पहला उदाहरण और एक क्रांतिकारी शैक्षिक अध्याय है। बहुत उत्तम कि तमिलनाडु ने अपनी भाषा को यह महत्ता दी है। आशा है अन्य राज्य भी इस परिपाटी को अपनाकर देश में मातृभाषाई क्रांति लाएंगे।

□□

अन्तरिक्ष का इतिहास

□काली शंकर

सुदूर नक्षत्रों तथा ग्रहों के विषय में खोज करने की मनुष्य की उत्कंठा शायद उतनी ही पुरानी है जितनी मानव सभ्यता। झिलमिलाते तारे और प्रकृति के अनेक रहस्यों ने मनुष्य को अपनी पृथ्वी से हटकर अन्तरिक्ष के रहस्यों की ओर आकर्षित किया। मनुष्य के द्वारा अन्तरिक्ष में उड़ने का उल्लेख ईसा से 2000 वर्ष पूर्व पहले हिन्दू वेदों में, भागवत में, पारसी और प्रारम्भिक मिश्र के साहित्य में और यूनान के कुछ अभिलेखों में मिलता है। यह दूसरी बात है कि इन प्राचीन काव्यों में मनुष्य के द्वारा अन्तरिक्ष में उड़ने के तरीकों की वैज्ञानिक दृष्टि से पुष्टि नहीं की जा सकती। मानव सभ्यता ने 4 अक्टूबर, 1957 को अन्तरिक्ष में प्रथम कृत्रिम उपग्रह स्पुतनिक-1 को स्थापित करके अपनी कुशल सूझबूझ का परिचय दिया। स्पुतनिक-1 उपग्रह को रूस ने बनाया था। मात्र 3-1/2 वर्ष के बाद अन्तरिक्ष तकनीक इतनी अधिक विकसित हो चुकी थी कि 12 अप्रैल, 1961 को

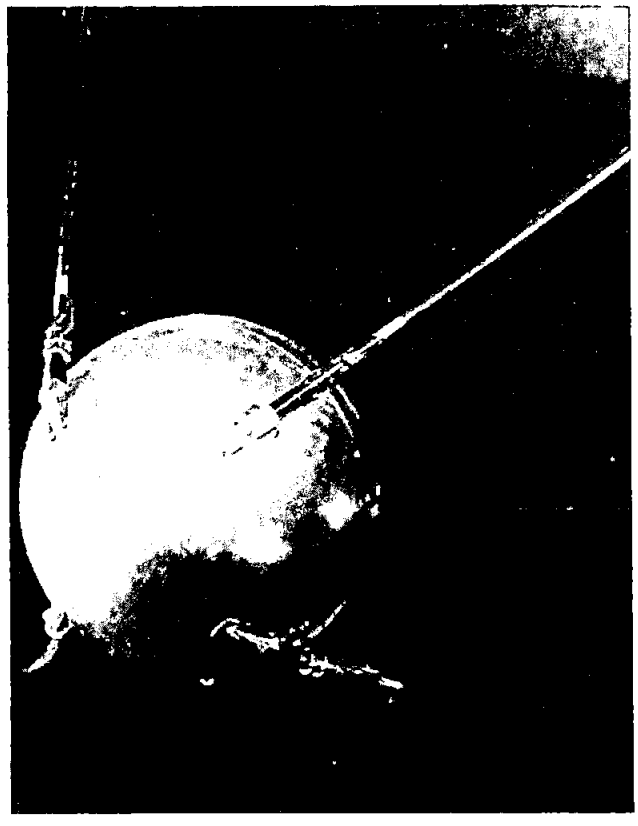

चित्र (1) मानव सभ्यता ने 4 अक्टूबर, 1957 को अन्तरिक्ष में प्रथम कृत्रिम उपग्रह स्पुतनिक-1 को स्थापित करके अपनी कुशल सूझ-बूझ का परिचय दिया। इस उपग्रह को रूस ने बनाया तथा उसे अन्तरिक्ष में प्रमोचित किया।

*दिल्ली भू-केन्द्र, भारतीय अन्तरिक्ष अनुसंधान संगठन, पोस्ट बाक्स 5227, सरदार पटेल मार्ग, नई दिल्ली—110021

रूसी अन्तरिक्ष यात्री यूरी गगारिन के रूप में मनुष्य स्वयं ही पहली बार अन्तरिक्ष में पहुंच गया और अन्तरिक्ष में जाने के बाद सकुशल वापस आ गया। इसके बाद 20 जुलाई 1969 को नील आर्मस्ट्रांग तथा एडविन अल्ड्रिन पृथ्वी के अलावा किसी अन्य ब्रह्मान्डीय पिन्ड का स्पर्श करने वाले पहले व्यक्ति हो गये। ये दोनों व्यक्ति पहली बार चन्द्रमा की सतह पर उतरे। स्पूतनिक-1 से चन्द्रमा तक पहुंचने में 12 साल से भी कम समय लगा।

नील आर्मस्ट्रांग के ही शब्दों में ''मनुष्य के द्वारा चन्द्रमा पर उतरना एक बहुत बड़ी छलांग थी तथा इसका श्रेय मानव के द्वारा ही विकसित जटिल तकनीक को जाता है जिसके द्वारा यह महान और असम्भव कार्य सम्पन्न किया जा सका''। इसके लिए एक विशाल राकेट विकसित किया गया, अन्तरिक्ष यात्रियों को अन्तरिक्ष यात्रा के विभिन्न पहलुओं से परिचित कराया गया तथा साथ ही साथ चन्द्रमा की सतह पर उतरने के लिए एक बग्घी का निर्माण किया गया जिसका पूर्व परीक्षण और वास्तविक प्रयोग एक साथ ही चन्द्रमा पर किया गया। इस बग्घी की यह खास आवश्यकता थी कि चन्द्रमा की सतह पर यह सफलतापूर्वक कार्य करे तथा इस चुनौती का सामना विकसित उन्नत तकनीक ने किया।

तकनीकी विकासों का सृजन केवल इसलिए नहीं किया जाता है कि भावी इतिहास उनकी प्रतीक्षा कर रहा है बल्कि इसलिए किया जाता है कि वैज्ञानिक और इंजीनियर इन तकनीकी विकासों की आवश्यकता को समझते हैं। इसके लिए ज्ञान और महत्वाकांक्षा न्यूनतम आवश्यकताएं हैं। मुख्य आवश्यकता धन की होती है। आठ साल तक चली अपोलो परियोजना के द्वारा अमरीका ने मनुष्य को चन्द्रमा की सतह पर उतारा तथा यह साहसी कार्य अमरीका के लिए आर्थिक दृष्टि से काफी महंगा पड़ा। यद्यपि इन बातों में धन का खर्च तो बहुत होता है लेकिन उस समय के हिसाब से अथवा आधुनिक विचारधारा के हिसाब से यदि देखा जाये तो भी मनुष्य के द्वारा चन्द्रमा पर उतरना एक महत्वपूर्ण घटना है। सैंकड़ों वर्षों से मनुष्य अन्तरिक्ष और विशेषकर चन्द्रमा के प्रति काफी आकर्षित होता रहा है। इस दृष्टि से जूल्स वर्ने और एच. जी. वेल्स जैसे मनोरंजक उपन्यासकारों की भूमिका काफी महत्वपूर्ण रही है जिन्होंने अन्तरिक्ष यात्राओं पर अनेकों काल्पनिक और मनोरंजक उपन्यास लिखे तथा इससे अन्तरिक्ष यात्रा के प्रति लोगों की जिज्ञासा बढ़ी।

अन्तरिक्ष यात्रा की काल्पनिक दन्तकथाओं का युग

चन्द्र यात्रा पर अनेक दन्तकथाएं लिखी गई हैं और ये दन्तकथाएं तब लिखी गई जब नील आर्मस्ट्रांग चन्द्रमा की सतह पर नहीं उतरे थे। चन्द्र यात्रा के लिए लिखी गई पहली दन्तकथा कल्पना से भी परे थी क्योंकि इसके लेखक ने इसे ईसा के दो शताब्दी बाद लिखा था। इस सन्दर्भ में उनके द्वारा लिखी गई पुस्तक ''ए टू स्टोरी'' वास्तविक रूप में अन्तरिक्ष उड़ान की एक बहुत बड़ी कल्पना थी। इसका नायक जिब्राल्टर जलडमरू से अपनी समुद्री यात्रा प्रारम्भ करता है तथा वह अटलान्टिक महासागर को पार करके यह देखना चाहता है कि दूसरी ओर क्या है? अपनी यात्रा के दौरान वह एक भयानक समुद्री तूफान के द्वारा उड़ा लिया जाता है तथा यह तूफान नायक को चन्द्रमा पर पहुंचा देता है। उस समय चन्द्रमा पर रहने वाले लोग सूर्य के विशाल क्षेत्र में रहने वाले लोगों को अपना दुश्मन मानते हैं तथा एक दूसरे से लड़ाई चलती रहती है। नायक चन्द्रमा के लोगों का साथ देता है लेकिन अन्त में पराजय चन्द्रमा के लोगों की होती है। इसके फलस्वरूप नायक सूर्य में पहुंच जाता है तथा बाद में वह चन्द्रमा पर एक शान्तिदूत के रूप में वापस आता है। अन्त में एक दिलचस्प कहानी लिए हुए नायक पृथ्वी पर वापस आता है।

अन्तरिक्ष कथाओं के प्रति पहली वैज्ञानिक प्रेरणा महान वैज्ञानिक गैलीलियो से प्राप्त हुई जो दूरबीनों के द्वारा पृथ्वी से चन्द्रमा तथा अन्य ग्रहों का अवलोकन करते रहते थे। गैलीलियो के बाद खगोलीय पिन्डों को प्राकृतिक और सामान्य बात माना जाने लगा तथा इन पिन्डों में जाने की बात सोची जाने लगी।

प्रारम्भ में जो कहानियां चन्द्र यात्रा पर लिखी गईं उनमें से एक कहानी महान खगोल शास्त्री जॉन केप्लर के द्वारा लिखी गई। इस कहानी का शीर्षक था, ''ड्रीम्स अबाउट द मून'' जो उन्होंने 1609 में लिखी तथा इसमें इस चीज का वर्णन किया गया कि चन्द्रमा से पृथ्वी कैसी दिखाई पड़ती है। उसके बाद चन्द्र यात्रा पर जो पहली स्मरणीय कहानी लिखी गई उसका नाम था ''मैन इन द मून'' तथा इसके लेखक थे फ्रैन्सिस गाडविन जो बाद में महारानी एलिजाबेथ-I के पुरोहित हो गये। फ्रैन्सिस गाडविन की कहानी का नायक अपने पालतू जंगली हंसों की मदद से चन्द्रमा पर पहुंच जाता है। रास्ते में नायक यह देखता है कि पृथ्वी भी दूर से देखने पर चन्द्रमा की भांति प्रतीत होती है तथा चन्द्रमा और पृथ्वी में यह अन्तर है कि पृथ्वी अपनी धुरी पर बड़ी तेज गति से घूमती है। नायक यह भी देखता है कि जैसे-जैसे वह चन्द्रमा की ओर बढ़ता है वैसे-वैसे वह यह भी महसूस करता है कि चन्द्रमा में अधिकांश रूप से पानी है तथा जमीन बहुत कम है। चन्द्रमा पर पहुंचने पर वह कुछ चन्द्रवासियों से मिलता है जो पृथ्वी के सामान्य मनुष्यों की तुलना में काफी लम्बे थे तथा पंखों की सहायता से एक स्थान से दूसरे स्थान को जाते थे।

1938 में महारानी एलिजाबेथ के एक अन्य पुरोहित जॉन विल्किन्स ने अन्तरिक्ष दन्तकथाओं के क्षेत्र में एक नई कृति ''डिस्कवरी ऑफ ए न्यू वर्ल्ड'' प्रकाशित करवाई। इसमें भी

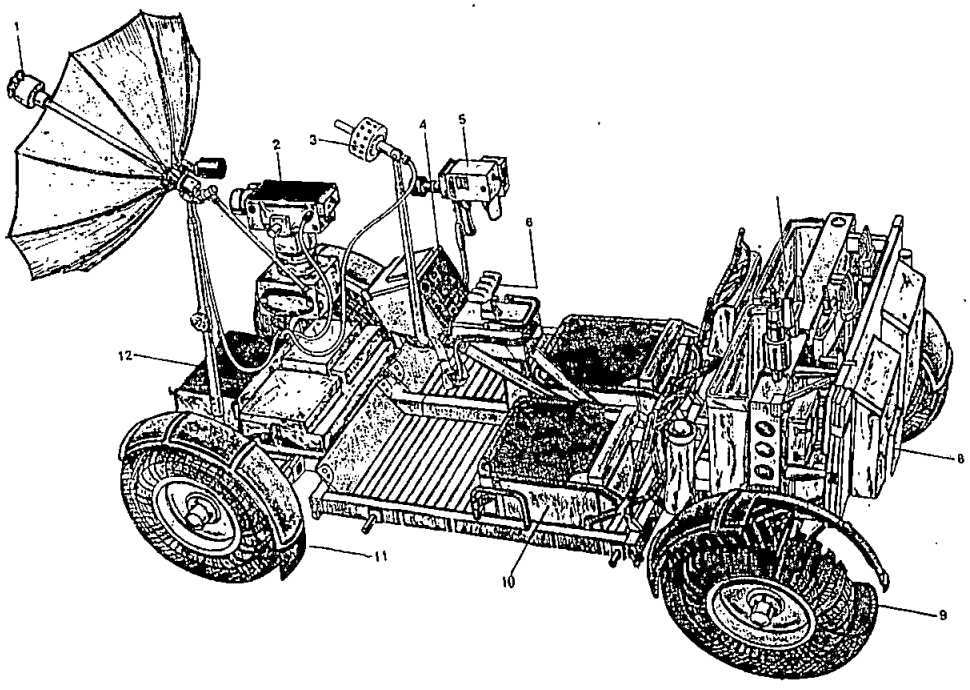

चित्र (2) चन्द्र बग्घी, जिसने अपोलो-15, 16, 17 अन्तरिक्ष यात्रियों के द्वारा चन्द्र सतह के सर्वेक्षण क्षेत्र को काफी अधिक बढ़ाया। वास्तव में यह अति विशिष्ट अन्तरिक्ष बग्घी थी जिसका डिजाइन इस प्रकार किया गया था जिससे कि यह अन्तरिक्ष की जटिल परिस्थितियों जैसे निर्वात, अत्यधिक परिवर्तनीय ताप सीमाओं और बीहड़ भूभाग में कार्य कर सके। बग्घी का भार कम रखने के लिए इसे अल्युमीनियम धातु से बनाया गया। चन्द्र सतह पर उतारने के लिए इसे सिमटी हुई अवस्था में रखा गया था।

(1) उच्चलब्धि एन्टेना
(2) टेलीविजन कैमरा
(3) निम्नलब्धि एन्टेना
(4) प्रदर्श कन्सोल
(5) 16 मि. मी. कैमरा पैक
(6) हस्त नियंत्रक
(7) चन्द्र मृदा संचयन बैग
(8) वैज्ञानिक और अंतरिक्ष यात्री उपकरण संचयन
(9) वायर मेश पहिए
(10) सीट के नीचे का उपयोगी स्थान
(11) पहियों के ऊपर के धूल अवरोधक
(12) चन्द्र संचार रिले इकाई

चन्द्र यात्रा का वर्णन किया गया था। इस पुस्तक में जॉन विल्किन्स ने चन्द्रमा तक पहुंचने के लिए एक ऐसे रथ का प्रस्ताव किया था जिसे बहुत सी चिड़ियों के माध्यम से अन्तरिक्ष में ले जाया जाना था। जान विल्किन्स ने उपर्युक्त पुस्तक उस समय लिखी थी जब महान वैज्ञानिक सर आइजक न्यूटन ने गुरुत्व के सिद्धांत की परिकल्पना की घोषणा नहीं की थी। इसके बावजूद विल्किन्स ने अपनी पुस्तक में एक विशेष बात का जिक्र किया था और वह यह था कि पृथ्वी के चारों ओर कुछ दूरी पर चुम्बकीय प्रभाव का एक घेरा है तथा यह प्रभाव कम होता जाता है जैसे-जैसे कोई अन्तरिक्ष यात्री इससे दूर जाता है। विल्किन्स ने इस पुस्तक में इस बात का भी जिक्र किया है कि अगर कोई मनुष्य पृथ्वी से 2000 मील की ऊँचाई तक पहुंच सकता है तो वह अन्त में चन्द्रमा तक भी पहुंच सकता है।

प्रारम्भिक दन्तकथाओं में खगोलीय ज्ञान की प्रचुरता

प्रारम्भ में चन्द्र यात्रा पर जो भी दन्तकथाएं लिखी गईं उनमें खगोल शास्त्र विज्ञान के अनेक सिद्धान्तों और पहलुओं का समावेश था। चन्द्रमा तक पहुंचने के अनेक सुझाव जो इन दन्तकथाओं में बताए गये थे वे सब कपोल कल्पनाओं पर ही आधारित थे और वास्तविकता से परे थे। उस समय तक भाप के इंजिन तक का भी आविष्कार नहीं हुआ था। राकेटों का प्रयोग उस समय भी होता था और इसीलिए कुछ अंतरिक्ष दन्तकथाओं में राकेटों का भी काफी जिक्र हुआ है। राकेटों का प्रयोग उस समय युद्ध में भी होता था।

दन्तकथाओं में राकेटों का प्रयोग

राकेटों के प्रयोग से चन्द्र यात्रा पर पहली दन्तकथा 1657 में लिखी गई। इसका शीर्षक था, "वायज़ टु दी मून"। इसके लेखक ने राकेट का प्रज्वलन एक साथ न करके बारी-बारी से करने का प्रस्ताव किया था। लेखक का यह प्रस्ताव प्रारंभिक बहुस्टेज वाले राकेट विज्ञान की आधारशिला थी। अन्य लेखकों ने अन्तरिक्ष की इन काल्पनिक कथाओं को मात्र कौतुहलवश लिखा। इनमें सबसे महत्वपूर्ण और स्मरणीय अभिलेख डैनियल डेफो के थे जिन्होंने "द कनसोलीडेटर", "मेमोरीज़ आफ सन्ड्री ट्रान्सैक्सन्स फ्राम द वर्ल्ड आफ मून" जैसी कृतियां लिखीं। लेकिन उनकी चन्द्र यात्रा की कल्पना यह दर्शाती है कि उस समय स्वर्ग को कितना बढ़ा-चढ़ा कर बतलाया जाता था। डैनियल डेफो ने एक ऐसे अन्तरिक्ष यान की कल्पना की थी जो दो बड़े बड़े डैनों की मदद से उड़ता था तथा प्रत्येक डैने में 513 पंख लगे थे। पंख युक्त डैनों को एक भाप के इंजन के द्वारा फड़फड़ाया जाता था। पंखों का फड़फड़ाना बड़े ही अस्वाभाविक रूप से कल्पित किया गया था क्योंकि वाष्प युग प्रारम्भ होने जा रहा था। इन सब का काल्पनिक तकनीकों के साथ उपर्युक्त वर्णित अन्तरिक्ष यान चन्द्रमा की ओर उड़ता था। डेफो ने अपनी दन्तकथाओं में यह भी महसूस किया कि चन्द्रमा और पृथ्वी के बीच एक बिन्दु ऐसा आता है जहां चन्द्रमा और पृथ्वी का खिंचाव सन्तुलित हो जाता है। इस प्रकार की परिस्थिति में उपर्युक्त पंखों की भूमिक रेट्रो राकेट की भांति हो जाती है। डेफो ने अपनी पुस्तक में इस बात का भी वर्णन किया है कि पृथ्वी और चन्द्रमा के निवासं एक समान हैं और चन्द्रमा के लोग पृथ्वी को तथा पृथ्वी के लो चन्द्रमा को एक बाह्य वस्तु के रूप में देखते हैं। लेकिन डेफो की पुस्तक को अधिक मान्यता नहीं मिल सकी। इसको एक व्यंग्य कथा की भांति माना गया।

अन्तरिक्ष उड़ानों को प्रोत्साहन और उन्नीसवीं सदी

उन्नीसवीं सदी में अन्तरिक्ष उड़ान के प्रति जो कौतूहल पैदा हुआ उसका श्रेय मानव की विज्ञान के प्रति रूचि तथ विज्ञान की उपलब्धियों को जाता है। यह वह समय था जब विज्ञान के प्रति अनभिज्ञ लोग भी वैज्ञानिक और तकनीक अनुसंधानों से विस्मित हो रहे थे। विज्ञान के क्षेत्र में यह काल बड़ा महत्वपूर्ण था क्योंकि विज्ञान की उपलब्धियों को लोग महसूस करने लगे थे। विज्ञान काफी आकर्षक और महत्वपूर्ण लगने लगा था। इसी समय अले सैन्ड्रो वोल्टा ने पहली विद्युत बैटरी की खोज कर ली थी और हम्फ्री डेवी ने इस बैटरी क प्रयोग अन्य नये-नये तत्वों को खोजने के लिए प्रारम्भ कर दिय था। माइकल फैराडे ने डाइनेमो, ट्रान्सफार्मर और विद्युत मोट की खोज कर ली थी। टेलीग्राफ का भी अनुसन्धान कार्य पूरा ह चुका था तथा पहले पानी के जहाज ने अटलान्टिक महासागर क पार कर लिया था। रेल मार्गों का जाल बिछ चुका था तथा मनुष ने गुब्बारों के द्वारा भी अपनी यात्राएं करना शुरू कर दिया था विज्ञान की दुनिया को अचानक एक नई स्फूर्ति प्राप्त होने लग थी। मनुष्य के दिमाग में यह बात धीरे-धीरे आने लगी थी कि विज्ञान के द्वारा वह कुछ भी प्राप्त कर सकता है। उन्नीसवीं स में लिखी गई वैज्ञानिक दन्तकथाओं को विज्ञान के नये आयाम एवं अनुसन्धानों से एक नई आशा मिली। तत्कालीन वैज्ञानिक विकासों से प्रेरित एक अन्य मनोरंजक लेखक एजर एलेन पो की पुस्तक "द अनपैरेलेल्ड एडवेन्चर ऑफ वन हैन्सपीफाल" वास्तविक रूप में चन्द्र यात्रा के सही रूप को प्रस्तुत किया स्वयं ही एक उभरते हुए वैज्ञानिक थे तथा उपर्युक्त पुस्तक वैज्ञानिक विवरणों का काफी अच्छा समावेश हुआ है।

पो ने अपनी चन्द्र यात्रा के लिए जिस गुब्बारे को चुन उसमें एक ऐसी गैस भरने का प्रस्ताव किया जो आज तक पृथ पर पैदा नहीं की जा सकी तथा इसका घनत्व हाइड्रोजन गैस अपेक्षा 37.4 गुना कम था। आज की वैज्ञानिक उपलब्धियो

आधार पर हम भली भांति कह सकते हैं कि ऐसी गैस कहीं पर उपलब्ध नहीं है। आज सबसे हल्की गैस हाइड्रोजन ही है जिससे हम सभी परिचित हैं। अपनी काल्पनिक चन्द्र यात्रा के लिए पो अपने गुब्बारे को उपर्युक्त वर्णित विशेष गैस से भरते हैं तथा उसमें भोजन, पानी और उपकरण रखते हैं। उपकरणों में कम्पास, बैरोमीटर और एक दूरबीन भी रखी जाती है। साथ में एक-एक बिल्लियों और कबूतरों का जोड़ा भी होता है। पो अपने साथ एक ऐसा काल्पनिक उपकरण भी ले जाते हैं जो वायु को संघनित करते रहते हैं।

पो को पृथ्वी से चन्द्रमा की दूरी पता होती है तथा उन्हें यह भी पता होता है कि जैसे-जैसे चन्द्रमा दीर्घवृत्तीय कक्षा में घूमता है वैसे-वैसे यह दूरी भी बदलती है। उन्हें यह भी पता है कि उनकी मुख्य समस्या एक उदासीन बिन्दु तक पहुंचने की है जहां पर पृथ्वी और चन्द्रमा के गुरुत्व बल सन्तुलित हो जाते हैं तथा इसके बाद केवल उड़ान का नियंत्रण ही महत्वपूर्ण हो जाता है।

योजना के अनुसार पो की उड़ान प्रारम्भ होती है। राकेट में ईंधन के तौर पर बन्दूक की गोली का पाउडर प्रयुक्त किया जाता है तथा इस प्रकार पो का गुब्बारा 17 मील की ऊँचाई तक पहुंच जाता है। राकेट का प्रयोग गुब्बारे को केवल 17 मील तक पहुंचाने में किया जाता है। उसके बाद गुब्बारा अपने सामान्य रूप में उड़ता है। जब गुब्बारा चन्द्रमा पर उतरता है तो पो का गुब्बारा चन्द्रमा के विचित्र प्राणियों के द्वारा घेर लिया जाता है। यद्यपि ऐसी अन्तरिक्ष उड़ान कभी सम्पन्न नहीं हुई फिर भी पो को इस प्रकार की अन्तरिक्ष उड़ान के प्रति जरा भी सन्देह नहीं होता है। फिर भी चन्द्रमा और पृथ्वी के बीच होने वाले अनेक वैज्ञानिक सिद्धान्तों की प्रक्रिया को स्पष्ट करने की दिशा में यह एक अच्छा प्रयास था। पो की पुस्तक ने अन्तरिक्ष उड़ान के प्रति नये विचारों पर ज्यादा प्रकाश नहीं डाला। लेकिन इस सन्दर्भ में एक अन्य पुस्तक ने काफी प्रभावी भूमिका निभाई और वह थी जूल्स वर्ने की पुस्तक "फ्राम अर्थ टु दी मून" जो 1866 में प्रकाशित की गई। इसमें एक ऐसे अन्तरिक्ष यान का वर्णन किया गया था जो प्रारम्भ में अन्तरिक्ष में बिना मनुष्य के जाने वाला था तथा बाद में इसमें तीन मनुष्य अंतरिक्ष में भेजने का प्रस्ताव था। जुल्स वर्ने का अन्तरिक्ष यात्रा का तरीका पो की अन्तरिक्ष यात्रा के तरीके से अधिक प्रायोगिक लगता है। इसका कारण यह था कि वर्ने के विचारों का आधार काफी तार्किक था। वर्ने के दन्तकथा उपन्यासों ने सामान्य जनता को काफी प्रभावित किया। इन उपन्यासों में दृष्टि इस बात की द्योतक है कि उन्नीसवीं सदी में लोग वैज्ञानिक बातों और खासकर अन्तरिक्ष के प्रति काफी आकर्षित होने लगे थे। किसी भी कार्य के सम्पन्न होने की आशा इस बात पर निर्भर करती है कि कार्य के सम्पन्न हेतु जागृत इच्छा शक्ति प्रकृति के मूल सिद्धान्तों का उल्लंघन तो नहीं कर रही है। वर्ने ने चन्द्र यात्रा पर दो पुसतकें लिखीं। दूसरी पुस्तक का नाम था "राउन्ड द मून" जिसका प्रकाशन 1870 में हुआ।

जूल्स वर्ने की अन्तरिक्ष उड़ान एक भयानक घटना के साथ समाप्त होती है जब उनका अन्तरिक्ष यान एक उल्का से टकरा जाता है। इस बिन्दु पर उपन्यास का अन्त दिखलाया गया है। साथ ही साथ यह भी बतलाया गया है कि चन्द्रमा तक न पहुंचने का कारण अन्तरिक्ष में उल्का जैसे खतरे भी थे।

एच०जी० वेल्स का युग

अन्तरिक्ष सम्बन्धी दन्त कथाओं के लेखकों में एच० जी० वेल्स का एक विशिष्ट स्थान है। 1901 में अपनी पुस्तक "दी फर्स्ट मैन ऑन दी मून" में उन्होंने चन्द्रमा तक पहुंचने के लिए एक अन्तरिक्ष उड़ान का वर्णन किया है। वर्ने की भांति एच०जी० वेल्स विज्ञान को केवल जनसामान्य तक पहुंचाने के लिए ही उत्सुक नहीं थे बल्कि उनकी कुछ राजनैतिक महत्वाकांक्षाएं भी थीं। वर्ने ने सुझाव दिया कि अन्तरिक्ष यात्री अन्तरिक्ष यात्रा के दौरान ठोस संतृप्त आहार और ऑक्सीजन के सिलेन्डर साथ में ले जायें। उनका यह भी सुझाव था कि अन्तरिक्ष यात्रा के दौरान त्याज्य पदार्थों का समुचित प्रबन्धन किया जाये। अन्त में अन्तरिक्ष यात्रा प्रारम्भ होती है तथा रास्ते में अनेक प्रकार की रुकावटें और अड़चनें आती हैं। पुस्तक का नायक चन्द्रमा पर बस जाता है।

दन्तकथाओं में राकेट ईंधनों का वर्णन

पो, वर्ने और वेल्स के अन्तरिक्ष सम्बन्धी कौतूहल पूर्ण उपन्यास वैसे तो काफी रोचक थे लेकिन इन सभी उपन्यासों में एक बात का सर्वथा अभाव था। इनके लेखकों में किसी ने भी इस बात पर विचार नहीं किया कि अन्तरिक्ष में जाने के लिए किस प्रकार के ईंधन का प्रयोग किया जायेगा। इसके बावजूद इन उपन्यासों के लेखकों ने जनसामान्य को अन्तरिक्ष के प्रति काफी आकर्षित किया। लेकिन अगर अन्तरिक्ष यात्रा के जनक के रूप में किसी व्यक्ति का नाम लिया जाना है तो वह व्यक्ति रूस के कोन्सैन्टिन सिवोल्कोवोस्की हैं जिनका जन्म 1857 में मास्को के पास हुआ था। सिवोल्कोवोस्की एक प्रतिभाशाली संकल्पनात्मक अभियन्ता थे लेकिन जूल वर्ने से प्रेरित होकर वे भी अन्तरिक्ष यात्रा पर तथा उसकी समस्याओं पर कार्य करने लगे थे। रॉकेट विज्ञान और अन्तरिक्ष यात्रा के विषय में जो ज्ञान सिवोल्कोवोस्की के पास था वह उस समय के किसी भी प्रतिभाशाली व्यक्ति के पास नहीं था। सिवोल्कोवोस्की पहले व्यक्ति थे जिन्होंने यह महसूस किया कि अन्तरिक्ष यात्रा के लिए रॉकेट सबसे अच्छा साधन है। 1833 में अपनी डायरी में इस बात का जिक्र किया था कि अगर किसी पात्र में भरी हुई गैस (दाबयुक्त दशा में) पात्र में एक छोटा सा छेद करके गैस अन्तरिक्ष में छेद से निकाली जाये

तो पात्र भी काफी पीछे धक्के के साथ हटेगा। यह प्रतिक्रिया का सिद्धान्त है। 1903 में सिवोल्कोवोस्की की पहली रचना "प्रतिक्रिया यंत्रों की सहायता से अन्तरिक्ष अन्वेषण" प्रकाशित हुई। यद्यपि सिवोल्कोवोस्की रॉकेट निर्माता न होकर एक वैज्ञानिक विचार वेत्ता थे फिर भी उनके लेखों में वास्तविक भार, बल और रसायनों का काफी अच्छी तरह से समावेश था। अपने इसी लेख में सिवोल्कोवोस्की ने रॉकेटों के लिए द्रव ईंधन का भी प्रस्ताव रखा था। उन्होंने चन्द्र यात्रा पर भी एक पुस्तक "ऑन दी मून" लिखी।

वास्तविक रॉकेटों के निर्माण का युग

अपने जीवन काल के दौरान सिवोल्कोवोस्की ने अंतरिक्ष यात्रा से सम्बन्धित अनेकों पुस्तकें लिखीं लेकिन वे वास्तविक रॉकेट के निर्माण से कभी सम्बन्धित नहीं रहे। लेकिन इसी अवधि में अमरीका के एक वैज्ञानिक राबर्ट एच गोडार्ड सिवोल्कोवोस्की की भांति राकेट विज्ञान की अनेक संकल्पनाओं पर कार्य कर रहे थे लेकिन साथ-साथ वे इन संकल्पनाओं को प्रायोगिक स्वरूप देने का भी प्रयास कर रहे थे। गोडार्ड एच०जी० वेल्स की अन्तरिक्ष दन्त कथाओं से काफी प्रभावित थे तथा इस पर उन्होंने काफी कार्य किया। गोडार्ड के द्वारा रॉकेट-निर्माण के कार्यों में विज्ञान के सिद्धान्तों का काफी गम्भीरता से प्रयोग हुआ। 16 मार्च, 1926 को उनके जीवन का सबसे अद्‌भुत सपना पूरा हुआ जब उनके द्वारा निर्मित विश्व का पहला द्रव ईंधन युक्त रॉकेट अन्तरिक्ष में गया।

अन्तरिक्ष क्या है?

भौतिक रूप से अन्तरिक्ष वह क्षेत्र है जहां पर पृथ्वी का वायुमंडल समाप्त हो जाता है। अन्तरिक्ष की यह भौतिक सीमा 1000 कि०मी० से 2000 कि०मी० के बीच में आती है। वास्तव में अन्तरिक्ष की सीमा-निर्धारण-कार्य एक विवादास्पद विषय है। चूंकि अन्तरिक्ष अन्वेषण का सीधा सम्बन्ध अंतरिक्ष पर्यावरण के जैविक प्रभावों से है, जिसमें जाकर मनुष्य को काम करना पड़ता है। इसलिए इस विषय को ध्यान में रखते हुए अन्तरिक्ष की जैविक परिभाषा भौतिक परिभाषा से अधिक महत्वपूर्ण और आवश्यक है। 1951 में स्ट्रगहोल्ड, हैबर इत्यादि ने यह सुझाव दिया कि पृथ्वी के वायुमंडल की समाप्ति तथा अन्तरिक्ष का प्रारम्भ विभिन्न ऊँचाइयों पर विभिन्न जैविक प्रभावों के आधार पर किया जाना चाहिए। इन विभिन्न उँचाइयों को उन्होंने कार्यात्मक सीमाओं की संज्ञा दी है। पृथ्वी पर सारे प्राणियों को शक्ति प्राप्त करने के लिए ऑक्सीजन की आवश्यकता होती है। पृथ्वी पर रहने का अभ्यस्त आदमी पृथ्वी से 3 कि०मी० की उँचाई पर जब जाता है तो उसे वायुमंडल में आक्सीजन की कमी महसूस होती है। वह सांस लेने में परेशानी महसूस करता है तथा उसकी कार्य क्षमता में कमी आ जाती है। 16 कि०मी० की उँचाई पर मनुष्य ऑक्सीजन की कमी पूर्ण रूप से महसूस करता है। यहाँ ऑक्सीजन की मात्रा 21% रह जाती है लेकिन दाब की कमी के कारण मनुष्य ऑक्सीजन को अपने अन्दर नहीं ले सकता है। 24 कि०मी० की उँचाई पर ऑक्सीजन इतनी अपर्याप्त हो जाती है कि हवाई जहाज तभी कार्य कर सकते हैं जब वे ऑक्सीजन अपने साथ ले जायें। 80000 फुट की उँचाई से ऊपर जाने के लिए केबिन को सीलयुक्त करना आवश्यक होगा।

जैसे-जैसे हम ऊपर जाते हैं वैसे-वैसे अन्तरिक्ष में अंधेरा बढ़ता जाता है। 30 कि०मी० से ऊपर अन्तरिक्ष में (दिन के समय) अंधकार प्रारम्भ हो जाता है। यहाँ दृष्टिगोचरता 3 कि०मी० की अपेक्षा 1/30 रह जाती है। 120 कि०मी० की ऊँचाई पर ऐसा लगता है जैसे रात में चन्द्रमा निकला हुआ हो। 160 कि०मी० की ऊँचाई पर ऐसा लगता है जैसे रात का माहौल हो लेकिन चन्द्रमा न हो। व्याप्त प्रकाश की कमी के कारण दिन के समय भी तारे दिखाई देने लगते हैं। 160 कि०मी० से ऊपर अन्तरिक्ष पूरी तरह से अन्धकारमय प्रतीत होता है।

जैसे-जैसे मानव ऊपर जाता है वैसे-वैसे वायुमंडल का घनत्व कम होता जाता है। वायुमंडल के घनत्व के कम होने के साथ-साथ ऊर्जा का स्थानान्तरण तथा संवहन के द्वारा गर्म होने की प्रक्रिया नगण्य हो जाती है। 200 क़ि०मी० की ऊँचाई पर वायु प्रतिरोध और वायुकर्षण महत्वहीन हो जाते हैं। इन ऊँचाइयों पर एक यान पृथ्वी की कक्षा में काफी देर तक ठहर सकता है। अन्तरिक्ष के विभिन्न विभाजन सारणी-1 में दिये गये हैं।

सारणी-1

अंतरिक्ष के विभिन्न विभाजन

ऊँचाई (कि०मी०) :	प्रभाव
1	2
3 :	ऑक्सीजन की कमी का आभास
7.5 :	शरीर के तन्तुओं में गैस के बुलबुलों का बनना
15 :	दाबयुक्त केबिन की आवश्यकता
20 :	शरीर में पानी का खौलना
24 :	दहन के लिए ऑक्सीजन की अनुपस्थिति तथा बन्द केबिन की आवश्यकता
21—45 :	अल्ट्रावायलेट विकिरण का शोषण

1		2
37	:	अत्यधिक कास्मिक विकिरण का शोषण
50	:	वायुगतिक लिफ्ट की सीमा
110	:	उल्काओं से बचाव की आवश्यकता
130	:	अन्तरिक्ष की शान्तता
160	:	अन्तरिक्ष का अंधेरापन
130—175	:	वायुकर्षण से ताप का न पैदा होना
200	:	वायुघर्षण महत्वहीन
1000	:	वायुमंडल में कणों का घनत्व 10^6 से 10^2 कण प्रतिघन से०मी०
1900	:	कणों का घनत्व 1 से 10 कण प्रति घन से०मी० (अन्तरिक्ष की भौतिक सीमा)

अन्तरिक्ष के गुण

अन्तरिक्ष अनेक गुणों और विशिष्टताओं से भरा हुआ है तथा इन विशिष्टताओं ने वैज्ञानिकों और भौतिक शास्त्रियों को सदियों से आकर्षित कर रखा है। साथ ही इन विशिष्टताओं ने अन्तरिक्ष को मानव के लिए औद्योगिक दृष्टि से बहुत उपयोगी सिद्ध किया है। अन्तरिक्ष अनेक प्रकार की किरणों, ऊर्जाओं, चुम्बकीय फील्डों और कणों से भरा हुआ है जो अन्तरिक्ष के अन्दर से एक विशिष्ट पैटर्न में गुजरते हैं। अन्तरिक्ष की पर्यावरणीय बुनियाद में सूर्य की बहुत महत्वपूर्ण भूमिका है। अपने 11 वर्षीय सक्रिय/शान्त प्रक्रिया में यह अनेक सौर ज्वालाओं और गैसों का जनन करता है जिसके दौरान अन्तरिक्ष को भीषण मात्रा में अल्ट्रावायलेट, एक्स-किरण और गामा किरणों से प्रताड़ित किया जाता है।

अन्तरिक्ष में पूर्णरूपेण निर्वात है। पृथ्वी पर इस प्रकार के निर्वात की परिस्थिति को बनाने के लिए काफी धन खर्च करना पड़ता है। पृथ्वी पर बनाया गया यह निर्वात उतना प्राकृतिक नहीं होता है जितना अच्छा निर्वात अन्तरिक्ष में होता है। किसी उपग्रह अथवा अन्तरिक्ष यान के सारे तंत्रों को अन्तरिक्ष के पूर्ण निर्वात में काम करना पड़ता है और इसीलिए इनके निर्माण में विशेष ध्यान रखा जाता है। अन्तरिक्ष के पूर्ण निर्वात में अनेक पदार्थों के अभियान्त्रिकी गुण वही नहीं रहते हैं जैसे कि पृथ्वी पर रहते हैं बल्कि अन्तरिक्ष में ये गुण परिवर्तित हो जाते हैं। चूंकि अन्तरिक्ष में धातुएं किसी प्रकार की गैसों का अवशोषण नहीं कर सकती हैं इसलिए इन धातुओं के अभियांत्रिकी गुणों में अन्तरिक्ष के पर्यावरण में काफी सुधार आ जाता है। स्टील और मालीबेडनम जैसी धातुओं के गुणों में अत्यधिक सुधार आता है। कुछ धातुओं के संक्षारण (कोरोजन) गुणों में अभूतपूर्ण सुधार आता है क्योंकि अंतरिक्ष पर्यावरण में सतह संक्षारण प्रक्रिया नहीं होती ।

पृथ्वी में कुछ ठोस पदार्थ जैसे सल्फर, कपूर इत्यादि गरम करने पर सीधे (बिना द्रव रूप में आये) गैस में परिवर्तित हो जाते हैं। इस प्रक्रिया को ऊर्ध्वपातन कहते हैं। पृथ्वी में ऊर्ध्वपातन की प्रक्रिया धातुओं के साथ नहीं होती है लेकिन बड़े आश्चर्य की बात यह है कि अन्तरिक्ष में धातुओं का ऊर्ध्वपातन होता है। यह अनेक प्रकार की समस्याओं को जन्म दे सकता है जैसे विद्युत रोधनों (इन्सूलेटर) और बेयरिंगों पर धातु की पतली सतह का जम जाना जिसके कारण इन्सूलेटर अपने मूल गुण खोने लगता है। जिंक, कैडमियम, लेड और मैग्नीशियम का ऊर्ध्वपातन और धातुओं की अपेक्षा कम तापमान पर होता है इसलिए ये धातु अन्तरिक्ष यान और उपग्रहों के लिए उपयोगी नहीं होते हैं। अन्तरिक्ष पर्यावरण का विभिन्न लुब्रीकेटिंग तेलों पर काफी प्रभाव पड़ता है। पृथ्वी पर प्रयुक्त सारे लुब्रीकेटर अन्तरिक्ष में असफल हो जाते हैं। अन्तरिक्ष का पर्यावरण इन सभी लुब्रीकेटिंग तेलों का वाष्पीकरण कर देता है। अन्तरिक्ष में पाउडर वाले लुब्रीकेटर भी काम नहीं करते क्योंकि वे अन्तरिक्ष में अपने नमी तत्व को खो देते हैं। अन्तरिक्ष यानों और उपग्रहों में जोड़ों में मुलायम धातुओं और मिश्र धातुओं का प्रयोग किया जा सकता है और मुलायम धातुएँ तथा उनकी सतहें लुब्रीकैन्ट की तरह काम करती हैं। लगातार घूमते रहने वाले जोड़ों के लिए विशेष सिरैमिक धातु से बनी बेयरिंगों का प्रयोग किया जा सकता है।

अन्तरिक्ष का उच्च निर्वात एक अच्छे कुचालक (विद्युतीय) की भांति कार्य करता है। इसीलिए अन्तरिक्ष पर्यावरण में उच्च बिभव वाले तंत्र काफी पास स्थापित रह सकते हैं तथा किसी प्रकार के ब्रेकडाउन का खतरा नहीं रहता है जबकि पृथ्वी में इसका उल्टा होता है। लेकिन दूसरी ओर ऊर्ध्वपातन के कारण खतरा रहता है। अन्तरिक्ष में तापीय स्थानान्तरण विकिरण और चालन के द्वारा ही सम्पन्न होता है न कि संवहन प्रक्रिया के द्वारा। अन्तरिक्ष में उपग्रह और अन्तरिक्ष यान उच्च और निम्न ताप सीमाओं के दौर से गुजरते हैं। जब ये सूर्य के सामने होते हैं तो इनका तापमान अत्यधिक उच्च हो जाता है तथा जब ये पृथ्वी की छाया में होते हैं तो इनका तापमान -150^0 सेन्टीग्रेड तक पहुंच जाता है। इसलिए इन यानों में प्रयुक्त होने वाले पदार्थ ऐसे हों कि इन परिवर्तनांक तापमानों से घटित होने वाले विस्तार और संकुचन को झेल सकें। अन्तरिक्ष यान और उपग्रह सूर्य से प्राप्त किरणों के द्वारा विद्युत ऊर्जा पैदा करते हैं। सूर्य से प्राप्त होने वाले विकिरण में लगभग 50% एक्स किरण और गामा किरण होती हैं जो पदार्थों के अन्दर गहराई में घुसकर उनका आयनीकरण कर देती है। आयनीकरण के अनेक नुकसान हैं तथा ये सेमीकन्डक्टरों के

विद्युतीय गुणों को धीरे-धीरे परिवर्तित कर देते हैं।

अन्तरिक्ष में अन्तरिक्ष मलबों (डेब्रिस) का भी खतरा रहता है। अन्तरिक्ष मलबे में निष्क्रिय उपग्रह, अन्तरिक्ष यानों के टूटे टुकड़े और उल्काएं होती हैं। इनमें प्रमोचन यानों की स्टेजें भी होती हैं तथा ये मलबे अन्तरिक्ष में 7000 से 45000 मील प्रति घन्टे की गति से घूमते हैं ।

उपसंहार—इस प्रकार अन्तरिक्ष युग के प्रारम्भिक दिनों की जब हम याद करते हैं तो एक आश्चर्य महसूस होता है जब उस समय वैज्ञानिक लोग अन्तरिक्ष में जाने के महत्व से अनभिज्ञ थे। लेकिन आज अन्तरिक्ष के महत्वपूर्ण पहलुओं ने मानव को आश्चर्यचकित कर दिया है और हमारा ध्यान रसायन विज्ञान के उस क्षेत्र की ओर अनायास ही चला जाता है जिसने करोड़ों वर्ष पहले आकाश गंगा के हमारे क्षेत्र में जीवन का अहसास दिलाया। आज खगोल विज्ञान के उपकरण अन्तरिक्ष में कार्यरत हैं तथा हमारे चक्षुओं ने ब्रम्हाण्ड के उस विहंगम दृश्य का नजारा ले लिया है जिसे पहले कभी नहीं देखा गया था। इसी के साथ ही हमने अन्तरिक्ष की और भी अधिक जानकारी हासिल की है।

□□

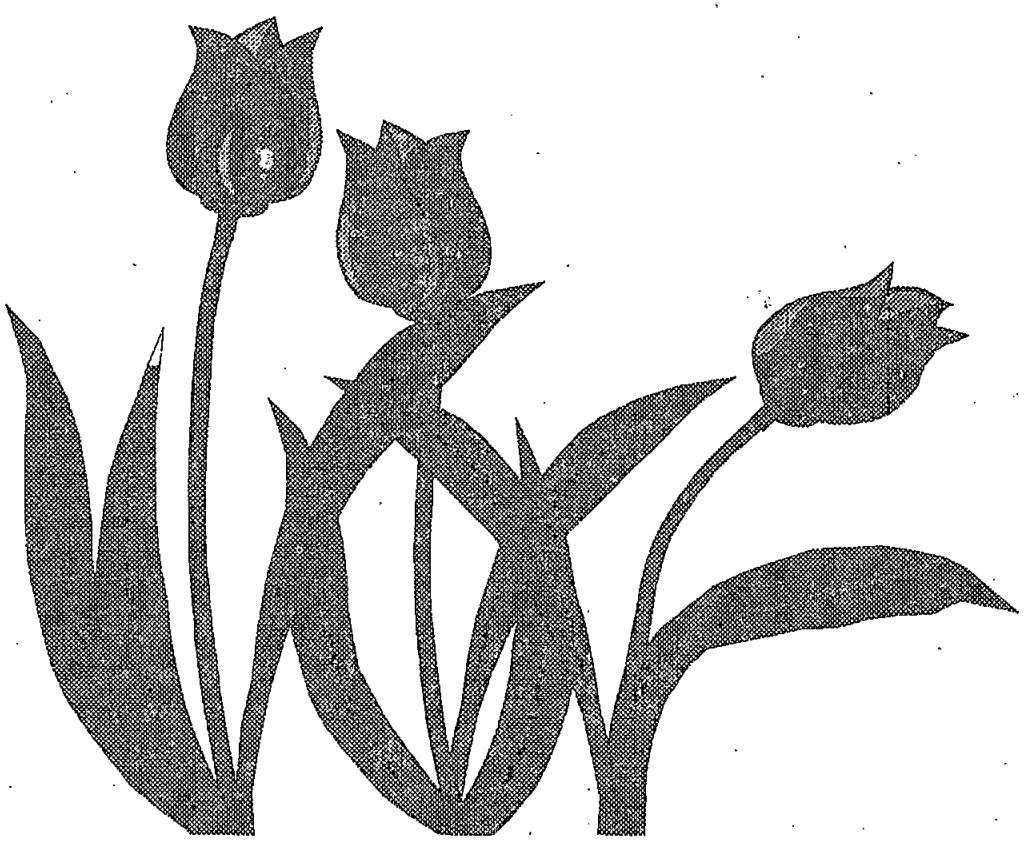

सत्य-असत्य

हिन्दी इतना झूठ बोलो, जितना आटे में नमक।
E. T. Tell as much of a lie as much there is salt in the flour. (as much as will go down.)
झूठ बोलनेवालों को पहले मौत आती थी, अब बुखार भी नहीं आता।
E. T. In former days liars died, now they don't even get fever.
English 1. He that trusts in a lie, shall perish in truth.
2. Truths and roses have thorns about them.
पंजाबी कूढ ना पुज्जे सच नूं सो घाड़त घड़िए।
हि. अ. कितना भी छुपाइये, झूठ सच की बराबरी नहीं कर सकता।
E. T. The lie can not reckon with truth, though one may conceal it so well.
झूठ चाहे भेस, सच कहे मैं नंगा चंगा।
हि. अ. झूठ को छुपाने के लिए पोशाक चाहिए; परंतु सत्य कहे, नंगा रहना ही अच्छा।
E. T. The lie needs some concealment but the truth says, "it is better to be naked."
कश्मीरी छानुॅ ठुक् छुनुॅ बस्ति रोजान्।
हि. अ. बढ़ई की आवाज़ खाल में छिपी नहीं रहती।
E. T. A carpenter's sound cannot remain concealed.
प्रोजय् पज़ान् प्रोतुस्।
हि. अ. अंत में सत्य ही प्रमाणित होता है।
E. T. The truth proves true in the end.
सिंधी कूड़े जी डोड़ खुड ताई।
हि. अ. झूठे व्यक्ति की दौड़ कोठे की लंबाई तक।
E. T. A liar can run at the most to the end of the house.
कूड़े जो मुंहुं कारो।
हि. अ. झूठे का मुंह काला।
E. T. A liar's face is blackened.
मराठी खाट्येाक प्राण नाय नि सत्याक मरण नाय. (गो.)
हि. अ. झूठे के प्राण नहीं होते और सत्य का मरण नहीं होता।
E. T. Falsehood has no breath (life) and Truth has no death.
खाट्यांचे कपाली गोटा.
हि. अ. झूठ के भाग्य में पत्थर।
E. T. One who is a liar finds a stone hit his forehead.

बांग्ला धर्मेर भरा भेसे ओठे, पापेर भरा तल जाय।
हि. अ. धर्म से भरा तैरेगा, पाप से भरा डूबेगा।
E. T. What is full of piety will float up, what is full of sin will sink down.
मिथ्येर भरा माझ-दरियाय डोवे।
हि. अ. झूठ भरा जहाज बीच-सागर में डूबे।
E. T. A ship loaded with falsehood sinks on the high seas.
असमिया अर्जुनर रथर सारथि नारायण।
हि. आ. अर्जुन के रथ के सारथी नारयाण हैं।
E. T. God Narayan himself is the chariot-driver of Arjuna. (i.e. truth is with Arjuna)
धर्मत थाकन्त हरि नाछारन्त सङ्ग
हि. अ. धर्म के पालन से भगवान साथ नहीं छोड़ता।
E. T. God becomes his companion, who remains virtuous.
उड़िआ हककथा, निंबतिअण आग आग पिता पछकु गुण।
हि. अ. सच्ची बात और नीम का साग पहले कड़ुआ फिर गुणकारी होता है।
E. T. Correct statement, like neem curry are at first bitter (in the mouth), but later good for health.
तमिल एतार्तवादी बेगुसन बिरोदि.
हि. अ. यथार्थवादी बहुजन विरोधी।
E. T. He who is truthful may be the enemy of many.
उणमै शोल्लिक् केट्टारुम् पोय शोल्लि वाळंदारुम् इल्लै.
हि. अ. सच बोलकर आज तक कोई विनष्ट नहीं हुआ और झूठ बोलकर कोई अच्छी तरह रहा नहीं।
E. T. None ever perishes by speaking the truth, none flourishes by uttering falsehood.
संस्कृत वादे वादे जायते तत्वबोधो।
हि. अ. वाद-प्रतिवाद से सत्य उभर आता है।
E. T. The light of truth emerges out of plenty of discussions.
सत्यमेव जयते।
हि. अ. केवल सत्य की विजय होगी।
E. T. Only truth wins/prevails.

संविधान में हिन्दी भाषा के विकास के लिए निदेश

351 संघ का यह कर्तव्य होगा कि वह हिन्दी भाषा का प्रसार बढ़ाए, उसका विकास करे ताकि वह भारत की सामासिक संस्कृति के सभी तत्वों की अभिव्यक्ति का माध्यम बन सके और उसकी प्रकृति में हस्तक्षेप किए बिना हिन्दुस्तानी के और आठवीं अनुसूची में विनिर्दिष्ट भास्त की अन्य भाषाओं के प्रयुक्त रूप, शैली और पदों को आत्मसात करते हुए और जहां आवश्यक या वांछनीय हो वहां उसके शब्द-भण्डार के लिए मुख्यतः संस्कृत से और गौणतः अन्य भाषाओं से शब्द ग्रहण करते हुए उसकी समृद्धि सुनिश्चित करें।

प्रबन्धक, भारत सरकार मुद्रणालय, रिंग रोड, माया पुरी, नई दिल्ली-110 064
1999